आन्तरजीवन

Inner Life

सी. डब्ल्यू. लेडबीटर साहिब कृत इनरलाइफ़
प्रथम खंड का संक्षिप्त अनुवाद

भाषान्तरकर्त्ता और प्रकाशक

रायबहादुर पंड्या बैजनाथ बी. ए.

कमच्छा, बनारस सिटी।

तारा प्रिंटिंग प्रेस में छपा

प्रथमबार १०००

मूल्य १)
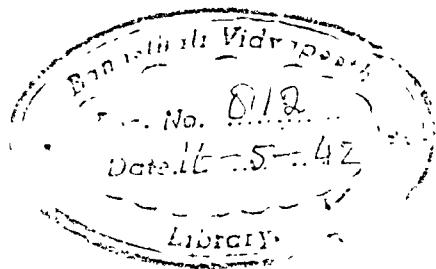
प्रस्तावना।

बिशप लेडबीटर साहिब ने सन् १९०९ ई० में कुछ जिज्ञासुओं को उपदेश दिया था और उनके प्रश्नों का उत्तर दिया था। ये सब उत्तर और उपदेश उसी समय लिख लिये गये थे और उनसे "इनरलाइफ" नाम का अंग्रेजी ग्रन्थ बना। उस ग्रन्थ के प्रकाशक की अनुमति से प्रथम खंड का यह भाषान्तर किया गया है। मूल ग्रन्थ के दो खंड बहुत बड़े २ हैं। यह भाषान्तर प्रथम खंड का है पर इसमें विस्तारभय से मूल ग्रन्थ के कुछ भागों का भाषान्तर नहीं किया गया है और कहीं २ भाषान्तर को संक्षिप्त कर दिया है। आरम्भ के ९९ पृष्ठों में और दूसरे महत्व के भागों में भाषान्तर ज्यों का त्यों किया गया है। ब्रह्मविद्या के हिन्दी ग्रन्थों का आश्रय बहुत कम मिलने के कारण इस बड़े ग्रन्थ के भाषान्तर को संक्षिप्त रूप में प्रगट करना पड़ा है। इन ग्रन्थों का ज्ञान फैलाने से लोगों का बहुत कल्याण होता है और इस कारण यह बड़े पुण्य का काम है। आशा है कि पाठकगण इस ज्ञान के फैलाने की यथाशक्ति चेष्टा करेंगे। इस भाषान्तर के करने में मुझे श्रीमान् पंड्या शिवशङ्करजी मास्टर राजनांदगांव से बहुत सहायता मिली है जिसके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ।

जून १९२६, भाषान्तर कर्त्ता

सूचीपत्र ।

प्रथमसर्ग--महात्मालोग

द्वितीयसर्ग—धर्म

तृतीयसर्ग--जिज्ञासु की भावना

चतुर्थसर्ग--ऊंचेलोक

पंचमसर्ग--जीव

शुद्धिपत्र ।

बहुत सावधानी रखने पर भी छपने में बहुतसी मात्राएं टूट गई हैं । पाठकगण कृपाकरके उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे । उनको यहां प्रायः नहीं दर्शाया है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	२३	दू और सरे	और दूसरे
१४	२	दुर्गुण को	दुर्गुणों को
२४	६	हैं	है
२६	१५	दुनियां	दुनिया
४९	२२	वर्तमान्	वर्तमान
५३	१	स्वर्गाय	स्वर्गीय
५८	१	लेव	लेवें
६३	२१	शक्तयता	शक्यता
६४	२	अविर्भाव	आविर्भाव
६९	२१	उन्नात	उन्नति
७१	१७	श्रोतापत्ति	स्रोतापत्ति
७४	२०	धीरे धीरे धीरे	धीरे धीरे
८२	१	तो	तब
८३	१६	पहुँचानेवाले	पहुँचनेवाले
८४	४	प्रणियों	प्राणियों

८४	५	तो	तब
९०	४	भूवर्लोक	भुवर्लोक
९५	१०	जानेकी	आनेकी
,,	२०	जिसमनुष्यने	जिस पशुने
९६	२३	की	कि
९७	२३	इतना	है, इतना
१११	१०	दिखाया	दिखा था
१३६	७	आश्चार्यजनक	आश्चर्यजनक
१४५–९–११		ग्रहाधिपति	ग्रहमालाधिपति
१७२	१७	अर्जाण	अजीर्ण
,,	,,	शिशिलता	शिथिलता
१८३	१	अविकासत	अविकसित
,,	५	दिखाते	दिखते
१८५	६	जायंगे	जायेंगे
१८६	११	विचरना	विचारना
१९७	१९	तो	तब
२१४	२२	चितादि	चिंतादि
२१५	१७	कोईकोई	किसी किसी
२२२	२२	परिवित	परिचित

आन्तर जीवन ।

प्रथम सर्ग ।

सिद्ध-संघ अर्थात् महात्मा लोग और उनके पास पहुंचने का मार्ग ।

महात्मा लोग ।

कभी २ चिरकालवाले गुप्तविद्याभ्यासियों को भी महात्माओं का ठीक २ ज्ञान नहीं रहता । हमें कभी २ ऐसे लोग मिले हैं जो उन्हें देव सरीखे मानते हैं या हमलोगों से उन्हें इतने ऊंचे मानते हैं कि उनसे हमें अधिक सहायता मिलने की संभावना नहीं रहती । उनके माहात्म्य में अर्थात् बड़े होने में तो कोई शक नहीं है । इस विचार से हम में और उनमें जो अन्तर है वह भले ही बेहिसाब होवे, पर दूसरी रीति से विचार करने से वे हमारे बहुत निकट हैं और उनकी सहानुभूति और सहायता हमारे बहुत निकट और बड़े काम की है । इस विषय में अपना विचार सही और साफ़ हो जाने के लिये हम यहां पर "महात्मा" शब्द की ठीक २ परिभाषा लिखेंगे ।

इस शब्द से हमारा अर्थ बड़े श्वेत सिद्धसंघ के ऐसे सभ्य का है, जो ऐसे दर्जे पर हैं जहां वे शिष्य ग्रहण कर सकते हैं । इस संघ की व्यवस्था दुनिया के और संघों से बिलकुल भिन्न है और इस कारण लोग उसके विषय में अकसर भूल

करते हैं। कोई २ लोगों ने उन्हें तिब्बतवाला या हिमालयवासी संघ बताया है और उनके वर्णन से ऐसा ख्याल पैदा हुआ है कि किसी दुर्गम पहाड़ में कुछ हिन्दुस्थानी साधुओं का एक मठ है। यह विचार शायद इस कारण उपजा हो कि थियासोफ़िकल समाज की स्थापना और उसके काम में विशेष ध्यान देनेवाले दो महात्मा इस समय तिब्बत में रहते हैं और उनके शरीर हिन्दू हैं। इसी विषय को ठीक रीति से समझने के लिये उसका विचार दूसरी रीति से भी करना चाहिये।

हमारे पाठकवर्ग को मालूम होगा कि पवित्रता के मार्ग के चार दर्जे हैं अर्थात् श्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत्। इनको सिद्ध कर के इनसे आगे का, अशेख नाम का, पद प्राप्त करने से मनुष्य उतनी उन्नति साध चुकता है जितनी इस कल्प में साधनी चाहिये और फिर उसे इस पृथिवी पर या दूसरे गोले पर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे मनुष्य के सामने अब सात मार्ग आते हैं जिनमें से वह एक कोई भी ग्रहण कर सकता है। उनमें से बहुत मार्ग तो ऐसे हैं जिनके ग्रहण करने से मनुष्य इस पृथिवी को छोड़ और दूसरे भारी काम में लगता है। शायद वे काम सारे सूर्यमंडल से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जो लोग अभीतक इस अशेष पद को प्राप्त हो चुके हैं उनमें से बहुतों का हाल हमलोगों को मालूम नहीं हो सकता।

बाकी के जो थोड़े से लोग हमलोगों के लिये कार्य कर रहे हैं उनके दो विभाग हो सकते हैं—एक जो स्थूल देहधारी हैं

और दूसरे जिन्हें स्थूलदेह नहीं है। जिन्हें स्थूल देह नहीं है वे "निर्वाणकाय" कहाते हैं। मानलो कि वे इस भूलोक और निर्वाणलोक के बीच में अटके हुए हैं। वे मनुष्य जाति के कल्याणार्थ आत्मिक बल उत्पन्न करने में अपना सारा समय बिताते हैं। यह बल एक कुंड में जमा होता जाता है और महात्मागण और उनके शिष्य लोग जो कार्य मनुष्य जाति के कल्याणार्थ करते हैं उनमें वे इस बल का उपयोग करते हैं। इस प्रकार इन नीचे के खंडों से सम्बन्ध बनाये रखने के कारण निर्वाणकाय को कभी २ "शोकभोग की इच्छा करने वाले" यह संज्ञा दी है परन्तु इससे भूल हो सकती है। उसका अर्थ यह है कि उनको निर्वाणलोक का या ऊंचे काम का आनन्द नहीं मिलता। जो अब भी दुखी है उन्हें सहायता करने के हेतु ये नीचे खंडों में रहना मंजूर करते हैं। यह सत्य है कि ऊंचे जीवन का अनुभव कर फिर इस लोक में लौट आना ऐसा है जैसे शुद्ध वायु और आनन्ददायक सूर्य के प्रकाश को छोड़ अन्धेरे और बुरी हवावाले तलघर में उतरना पड़े। पर जो मनुष्य ऐसे तलघरों में दूसरे किसी को वहां से बचा लाने के लिये प्रवेश करता है वह कुछ उस जगह दुखी नहीं रहता; वरन उसे सहायता करने का आनन्द बना रहता है; हालांकि दोनों अवस्थाओं में बहुत बड़ा अंतर होता है और उसे उस स्थान में कठिन बंधन और संकोच का भाव बना रहता है। ऐसा प्रसंग पाकर जो मनुष्य उसे ग्रहण न करे उसे पीछे से निस्सन्देह पश्चात्ताप का बहुत अधिक दुःख होगा। जिसे एक

बार जगत् की अध्यात्मिक दरिद्रता का ठीक २ ज्ञान हो गया है और यह मालूम हो गया है कि मनुष्य जाति का सहायता की कितनी अधिक आवश्यकता है वह दूसरे अज्ञानी मनुष्यों की तरह निश्चिन्त और उदासीन नहीं रह सकता।

सौभाग्य से जिन लोगों को संसार दुःख का इस प्रकार दर्शन हो गया है उन्हें सच्ची और किसी दर्जे तक, योग्य सहायता करने के साधन भी मिल जाते हैं। इस कुण्ड के बड़े बलभंडार में हम लोग भी अपनी छोटी २ बूंदे जमा कर सकते हैं चाहे निर्वाणकाय के दीर्घ बलप्रवाह की अपेक्षा हमारा प्रयत्न बहुत ही छोटा क्यों न हो। प्रेम या भक्ति के प्रत्येक प्रवाह (विचार) से दुहरा फल होता है। एक तो उस मनुष्य के ऊपर जिसकी ओर यह विचार जाता है और दूसरा भेजनेवाले के ऊपर। पर यदि इस प्रेम या भक्ति में स्वार्थता का लेशमात्र अंश भी न होवे तो उसका एक तीसरा फल भी होता है। साधारण प्रेम और भक्ति ऊंचे प्रकार के भी हों पर उनकी गति बंद वक्र के समान अर्थात् गोलाई में होती है इससे उनका फल हमारे पास लौट आता है। पर जो मनुष्य वास्तव में निःस्वार्थी है उसके प्रेम या भक्ति की गति खुले वक्र में होती है। यद्यपि उसके कुछ अंश की प्रतिक्रिया (असर) उस भेजने वाले पर अवश्य होती है पर उस बलप्रवाह का उत्तम और विशाल भाग खुद ईश्वर तक पहुंच जाता है और उसके प्रत्युत्तर में जो महान् आशीर्वाद वर्षता है वह उस कुण्ड में मनुष्य जाति के कल्याणार्थ भरता है। इस प्रकार प्रत्येक

मनुष्य, चाहे वह कितना ही निर्बल और दरिद्री क्यों न हो, इस अति सुन्दर रीति से संसार की सहायता कर सकता है। ईसाई धर्म में दूसरों के कल्याणार्थ सत्कार्य करने की जो आज्ञा है उससे इसी अध्यात्मिक बल के कुण्ड में और बल जोड़ने का अर्थ है।

स्थूल शरीरधारी महात्माओं की संख्या और भी कम है पर ये लोग हमसे विशेष घना सम्बन्ध रखते हैं जिसमें ये हमारे विकास के लिये कुछ आवश्यक कार्य कर सकें और किसी २ पदों को (ओहदों को) धारण कर सकें। इस द्वितीय स्थूल देहधारी विभाग को कभी २ 'महाश्वेतसंघ' और 'गुप्तसिद्ध संप्रदाय' कहते हैं। इन अति उन्नति प्राप्त पुरुषों की संख्या बहुत थोड़ी सी है। ये किसी एक देश से सम्बन्ध नहीं रखते वरन इनका कार्य सारे जगत् से सम्बन्ध रखता है। इस भूलोक में वे सब इकट्ठे नहीं रहते पर ऊंचे लोकों में वे एक दूसरे से सदैव मिलते रहते हैं। उन्हें पुनर्जन्म का बंधन तो है ही नहीं, इसलिये एक शरीर के जीर्ण हो जाने पर ये अपने कार्य की आवश्यकतानुसार जहां चाहें वहां दूसरा शरीर ग्रहण कर लेते हैं। इसलिये इनका शरीर किस देश का है यह कोई महत्व की बात नहीं। इस समय बहुतों के शरीर तो हिन्दुस्थानी हैं, एक का तिब्बत का, एक का चीन का, दो का अङ्गरेजी, एक का इटली का, एक का हंगेरी का और एक का सिरिया का शरीर है। एक साइप्रस के टापू में उत्पन्न हुए थे। यह तो पूर्व में कह ही चुके हैं कि शरीर किस देश का है यह

कोई महत्व की बात नहीं है। पर हमने यह वर्णन यह बताने के लिये किया है कि इस सिद्ध-संप्रदाय को एक जाति का मानना भूल की बात होगी।

इस सिद्धसंघ के अधिपतिजी के विषय में अधिक कहने में अति भक्ति और मान के कारण हमें संकोच लगता है। बड़े २ महाद्वीपों और खंडों की व्यवस्था इनके हाथ में है। इन्हीं की तरफ से सब दीक्षाएं दी जाती हैं। कोई एक करोड़ अस्सी लाख वर्ष बीते जब शुक्रलोक से कुछ महर्षिगण इस हमारी ग्रहमाला के विकासक्रम में सहायता करने के लिये और अग्रगामी होने के लिये यहां आये थे। अब उनमें से यहां बहुत ही थोड़े रह गये हैं और उनमें से एक ये श्रीअधिपतिजी हैं। इन महर्षियों ने यहां आकर हमारी उस समय की मनुष्यजाति के शरीर धारण नहीं किये क्योंकि उस समय इन शरीरों की उन्नति बिलकुल नहीं हुई थी। पर उन ने अपनी इच्छा शक्ति के प्रभाव से, दिखने में और मनुष्यों सरीखे, शरीर रचकर धारण कर लिये। यह एक प्रकार का अक्षय स्थूलरूप धारण करना हुआ। तब तक और उसके पीछे बहुत काल तक हमारी मनुष्य जाति में से कोई इतनी उन्नति नहीं कर सका था जो इस सिद्ध संप्रदाय (नियंतृकुल) में से किसी पद के लायक होता। इस कारण हमें इस शुक्रलोक के महर्षियों की सहायता की बड़ी आवश्यकता पड़ी। धीरे २ मनुष्यजाति की उन्नति होती गई और यहां के कोई २ उन्नति प्राप्त जीव इस काम के लायक होते गये जिससे ये महर्षिगण दूसरे लोकों में दूसरे

विकास कर्मों में सहायता देने के लिये जाने को मुक्त हुए। पर उनमें के एक अब भी हमारे यहां के अति उच्चपद पर विराजमान हैं। इस पृथिवी के सब विकास की व्यवस्था इनके हाथ में है, मनुष्य का विकास ही नहीं; बरन पशु, वनस्पति, खनिज और उसके नीचे भौतिकसर्ग और सब छोटे बड़े देव-वर्गों के विकास की व्यवस्था भी ये ही करते हैं। कोई २ देववर्ग मनुष्य से बहुत ऊंचे हैं।

इनके अधिकार के नीचे कई महकमों के अधिकारी कार्य करते हैं जिनके कार्य का कुछ २ हाल हमलोग इनके कार्य की अपेक्षा विशेष समझ सकते हैं। जैसे मूल जाति के मनु की क्रिया का विधिवार हाल समझना तो हमारी शक्ति के बाहर है पर हम कुछ २ यह समझ सकते हैं कि नई जाति के बनाने में मनुजी को कितनी २ अड़चनें उठानी पड़ती हैं। इसी प्रकार हम इस भूलोक के धर्माधिपति की क्रिया की भी कल्पना किसी कदर कर सकते हैं। इस संसार में जहां जैसे धर्म की आवश्यकता पड़ती है, वहां ये वैसा धर्म प्रचार करते हैं। कभी उस कार्य के लिये आवश्यकतानुसार अपने किसी शिष्य को भेजते हैं या कभी वे स्वयं जन्म लेते हैं। इन्हें पूर्वीय देशों में बहुधा बोधिसत्व कहते हैं अर्थात् जो बुद्ध होने वाले हैं और अभी उस पद को प्राप्त होने की तय्यारी करते हैं। हाल में इस पद पर श्री मैत्रेय ऋषीश्वर स्थित हैं, इनसे पूर्व उस उच्च पद को वे धारण किये हुए थे जिनको हमलोग गौतम बुद्ध कहते हैं। पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना ही बुद्ध पद को प्राप्त होना

नहीं है पर इसमें एक खास दीक्षा भी लेनी पड़ती है। इस बुद्ध पद को प्राप्त होकर वह जीव फिर इस पृथिवी में जन्म नहीं ले सकता पर अपने उत्तराधिकारी को अपना काम सौंप कर बहुधा पृथिवी के सम्बन्ध से बाहर चला जाता है।

पर भगवान् गौतम बुद्ध ने बुद्ध पद को पाकर भी पृथिवी को सहायता देने के हेतु से उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध जारी रखा है। हर वर्ष एकबार सिद्धसंघ को उनके दर्शन होते हैं और उनका आशीर्वाद मिलता है जिसे ये सारी पृथिवी में फैला देते ह। एक विधि से इनके पास पहुंचना भी संभव है। आर्यजाति की आरम्भ की उपजातियों में धर्म की शिक्षा देने के लिये इनने बार बार जन्म लिया था। ईजिप्त (मिस्रि) देश में रहस्य ज्ञान समाज का ज्ञान बताने वाले हर्मीज़ ये ही थे। सूर्य और अग्नि की पूजा के (पारसी) धर्म की स्थापना करने वाले आदि ज़रथुस्त ये ही थे; ग्रीस देश की रहस्य ज्ञान समाज (Mysteries) का ज्ञान बताने वाले आरफ़ियस ये ही थे। इसके सिवाय इन ने और धर्मों की भी स्थापना की थी जिनका पता हम लोगों को दिव्य दृष्टि द्वारा शोध करने में लगा है।

थियासोफ़ी के पूर्व ग्रन्थों में जो लिखा गया था कि भगवान् बुद्ध ने शङ्कराचार्य का जन्म लिया, सो भूल थी, क्योंकि रहस्य ज्ञान की दृष्टि से ये दोनों धर्म उपदेशक जुदी २ व्यवस्था विभाग के थे। पूर्व वर्णन का कारण यह था कि श्री शंकराचार्य ने भगवान् बुद्ध के कुछ कोशों का उपयोग अपने

लिये किया था जैसा कि मैडेम ब्लेवेट्स्की ने 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' की तीसरी जिल्द में समझाया है।

पूर्व के सब देशों में भगवान गौतम बुद्ध की ओर जो अति भक्ति और प्रेमभाव दिखाते हैं उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हमारी मनुष्यजाति में से उन्होंने सब से पहिले इस अति उच्च विशाल बुद्ध पद को पाया। वे हमारी मनुष्य जाति के प्रथम फल और नेता थे। उनके पूर्व जो और बुद्ध हो गये हैं वे और मन्वन्तरों की मनुष्यजाति के थे। दूसरा कारण यह है कि मनुष्यजाति की उन्नति में शीघ्रता होने के लिये इन ने अपने ऊपर बहुत भारी प्रकार का कुछ और बोझ लाद लिया था। इस बोझे का हाल समझना असम्भव है। ऐसा कथन है कि जब ऐसा समय आन पहुंचा, जब इस बुद्ध पद के लिये इसी मन्वन्तर की मनुष्यजाति में से कोई योग्य पात्र के मिलने की आशा की जाती थी तब कोई भी ऐसा न मिला जो पूर्ण रीति से इस काम के योग्य होता। तब हमारी मनुष्यजाति में से बहुत ही थोड़े लोग महात्मा पद के ऊँचे विभागों को प्राप्त हुए थे। पर इन में सब से आगे दो भाई और मित्र थे जिनकी उन्नति एक-समान हुई थी। ये दो वे बड़े जीव हैं जिन्हें हम भगवान् बुद्ध और श्री मैत्रेय ऋषीश्वर कहते हैं। मनुष्य जाति के प्रति अत्यन्त प्रेम होने के कारण भगवान बुद्ध ने यह अंगीकार किया कि धर्मगुरु के पद के योग्य होने के लिये जो और अति कठिन साधना साधनी पड़ेगी वह हम साधेंगे। इन के बन्धु और मित्र ने यह

निश्चय किया कि हज़ारों वर्ष बीतने पर इनके पश्चात् हम यह पद धारण करेंगे।

इस बहुत पुरातन काल में धर्म और शिक्षा का काम भगवान् बुद्ध के अधिकार में था। पर अब इस भारी पद को उनने श्री मैत्रेय ऋषीश्वर को सौंप दिया है। इन्हें पश्चिमीय देशों में मसीह (क्राइस्ट) कहते हैं। इन ने जीसस (ईसा) अपने शिष्य के शरीर में उनके जीवन के अन्तिम तीन वर्ष के लिये प्रवेश किया। जिन्हें इन बातों का ज्ञान है वे बताते हैं कि ये ऋषीश्वर शीघ्र ही फिर इस संसार में दूसरे धर्म की स्थापना करने के लिए प्रकट होंगे। इस विशाल सत्य को अच्छी तरह से समझ लेने से यह मालूम हो जायगा कि एक धर्म को दूसरे के विरुद्ध मानना या एक धर्म स्थापक को दूसरे से हलका समझना, यह कितनी खराब बात है। क्यों-कि दो धर्मों की स्थापना उनके दो शिष्यों ने ही की होगी या उन्हीं ने दो बार अवतार लेकर की होगी। उनके धर्म उपदेश का असल तत्व तो सदैव एक ही रहता है पर देश-काल की आवश्यकतानुसार उस सत्य के बाहिरी रूप में भेद होना सम्भव है। जिस पद पर श्रीमैत्रेय ऋषीश्वरजी अभी विराजमान हैं, उसके प्राप्त होने के पूर्व उन ने कई जन्म लिये हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि ये सदैव शिक्षक या पुरोहितों के अधिपति रहे हैं।

अब लोगों को यह बात बहुधा मालूम है कि ब्रह्मविद्या (थियासोफ़िकल) समाज की स्थापना और उसके कार्य में

जिन दो महात्माओं ने विशेष भाग लिया है वे नई छठवीं मूलजाति के धर्मगुरु और अधिपति अर्थात् मनु होने वाले हैं। इस जाति का आरम्भ अब से कोई सात सौ वर्ष में होगा। सृष्टि की रचना में ईश्वर के मन में उसका रूप बन जाता है। मनु अपनी जाति के पूर्ण सत्ताधारी राजा होते हैं और उनका काम यह है कि उस जाति की उन्नति कराकर उसको यथा शक्ति ईश्वर के उस विचार रूप के समान बना देवें। इस-लिए वे इस जाति के स्थूल जीवन की प्रत्येक व्यवस्था नियत कर देते हैं। धर्मगुरु नई जाति की धर्म सम्बन्धी सब व्यवस्था कर देवेंगे और उसके बालकों की शिक्षा (पढ़ाई) का काम भी उनके अधिकार में रहेगा। इस थियासोफ़िकल समाज की स्थापना का एक हेतु तो यह था कि इन दो महात्माओं के आसपास अभी से ऐसे मनुष्य जुड़ जावें जो इस विशाल काम में खुशी से और बुद्धिमानी के साथ सहायता करें। इनके आस पास ऐसे लोग भी जमा होंगे जो आज उनके शिष्य हैं, पर तब तक वे महात्मा पद को प्राप्त हो जावेंगे। तो इन महात्माओं के सामने संसार हित के लिये जो यह आश्चर्ययुक्त काम है उस में भाग लेने का सौभाग्य हमको प्राप्त होवे इसके लिये हम अभी से कोशिश कर सकते हैं। वहां का काम नाना प्रकार का रहेगा। और नाना प्रकार के बुद्धिमान मनुष्यों की वहां आवश्यकता भी पड़ेगी। हम में से किसी को उस काम का एक भाग पसन्द आवेगा और किसी को दूसरा भाग। यह बहुत कर

के इस बात पर आश्रित रहेगा कि हमारा प्रेम इन दो महात्माओं में से किसके प्रति विशेष है। एक में शक्ति गुण प्रधान है और दूसरे में प्रेम और दया। पर इस बात को ठीक २ न समझने से भूल होगी। एक कई जन्मों से राजा होते आये हैं, और इस जन्म के आरम्भ में भी राजा ही थे। इसलिये उनकी प्रत्येक चेष्टा में और दृष्टि में राजशक्ति या सत्ता झलकती है। इसी प्रकार दूसरे महात्मा के मुख में प्रेम और दया का भाव पूर्ण रीति से दर्शता है। ये दोनों जुदी २ किरण या नमूने के हैं और इस पद पर जुदे २ मार्ग से पहुँचे हैं। इसलिए उन भिन्न २ मार्गों का असर तो अवश्य प्रकट होवेहीगा; पर यह नहीं मानना चाहिये कि प्रथम में दूसरे की अपेक्षा प्रेम और दया कम है या दूसरे में प्रथम की शक्ति का किसी प्रकार का अभाव है। इस कार्य में और महात्मा लोग भी शामिल होंगे और यह भी सम्भव है कि हम में से किसी २ का सम्बन्ध इस काम से उन महात्माओं में से किसी एक के द्वारा हुआ हो।

यह सम्भव है कि जिन महात्माओं के नाम तुम को अच्छी तरह मालूम हैं उनका ज्ञान तुम्हें इतना साफ २ न होवे जितना हमलोगों को होता है। हम लोगों को अपने काम के करने में उनसे बार २ मिलना पड़ता है। इतने पर भी तुम्हें चाहिये कि तुम उनके विषय में पढ़कर और बार २ विचार करके यह साफ़ २ ज्ञान प्राप्त करलो ताकि तुमको सदैव यह भान बना रहे कि महात्मा जीवित मनुष्य हैं। यद्यपि वे हम से हर

प्रकार बहुत ही बढ़ हुए हैं। ये मनुष्य तो निस्सन्देह हैं, पर इन में मनुष्य की कोई अपूर्णता या दुर्गुण नहीं हैं। इसलिये उन से जो प्रेम, दया और शक्ति का प्रवाह होता है, उसके कारण वे हमलोगों के लिये देवों के समान हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उनके समक्ष जाने से इस विशालशक्ति के कारण यद्यपि हमको अति आदर का बोध होता है पर संभ्रम या डर नहीं लगता और उन्नत होने का बोध होता है।

उनके सन्मुख जानेहारे को अति दीनता का बोध होता है क्योंकि दोनों के बीच में कितना भेद है? इतनी दीनता पर भी उसे यह भी खातिरी होती है कि जब श्री गुरुदेव ने मनुष्य होकर भी इतनी उन्नति कर ली है, तो हम भी उन्नति कर सकेंगे। उनके समक्ष प्रत्येक बात साधना सरल मालूम पड़ता है और पिछली बीती अड़चनों पर आश्चर्य मालूम पड़ता है कि इन से इतनी घबड़ाहट या डर क्यों मालूम पड़ता था। उसे ऐसा बोध होता है कि अब हमको ठीक २ ज्ञान हो जाने के कारण ऐसी अड़चन फिर न पड़ेगी। अब हम यह कभी न भूलेंगे कि मुसीबत का बादल कैसा ही काला क्यों न हो, उस के पीछे अच्छी अवस्था का सूर्य सदैव प्रकाशमान है। महात्माओं के कम्प इतने बलवान रहते हैं कि उनके निकट जाने से उन कम्पों के अनुकूल जो गुण तुम में हैं वे जाग्रत होते हैं। इस से तुम्हें अपने में पूर्ण श्रद्धा (खातिरी) और प्रेम का बोध होता है और उनके पास सदैव बने रहने की इच्छा होती है। ऐसा नहीं है कि तुम भूल जाते हो कि हम

में कोई दुर्गुण भी हैं। इस समय तुम्हें ऐसा भान होता है कि इन दुर्गुण को हम अब जीत सकते हैं। सब दुर्गुण श्री गुरुदेव को प्रकट हो जाने से तुम्हें जरा भी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि तुम्हें पूर्ण खातिरी है कि वे इन न्यूनताओं को पूर्ण रीति से समझते हैं; और जो पूर्ण रीति से समझता है वह पूर्णरीति से सब दोषों को क्षमा भी करता है।

ये महात्मा कुछ काल पूर्व हमारे सरीखे मनुष्य थे और उनका वर्णन इतिहास में मिलता है। उदाहरणार्थ महात्मा के० एच० एक समय योरोप में पिथेगोरस तत्ववेत्ता थे। उसके पूर्व वे इजिप्त (मिश्र) देश में सारथन नाम के पुरोहित थे। एक और प्रसंग पर वे एशिया माईनर के एगेडी ग्राम में मंदिर के प्रधान पुरोहित थे। कुछ जंगली लोगोंने पहाड़ों से निकल,कर इस नगर पर अचानक चढ़ाई की और उस नगर-वासियों को कतल कर डाला। उसमें ये भी मारे गये। एक ग्रीक जाति का मछुआ वहां से भाग जाने के प्रयत्न में डूब मरा था। उसके शरीर में इनने प्रवेश किया और पारस देश को गये। वहां पर इनने अन्तिम जरथुस्त को हाल का पारसी धर्म स्थापित करने में बहुत सहायता की। इसके पीछे वे रोम नगर में जुपीटर के मन्दिर में पुरोहित थे और इससे भी पीछे वे बौद्धधर्म के बड़े उपदेशक नागार्जुन हुए। हम लोगों में से कुछ सभ्यों के पूर्व जन्मों का शोध करते समय इनके भी कई जन्मों का हाल मालूम हुआ है। पर ये प्रायः सदैव ही पुरोहित या अध्यापक का काम करते थे।

इन बहुत पुरातन काल की शोधों में शिष्य जीसस (ईसा) भी कई वार मिले हैं जिनने पैलिस्टाइन में अपना शरीर मसीह (क्राइस्ट) को उनके कार्य के लिये सौंप दिया था। उस कर्म विपाक के कारण वे टयाना ग्राम वाले अपोलोनियस हुए और ग्यारहवीं शताब्दी में उन्हों ने इस भारतवर्ष में रामानुजाचार्य के रूप में प्रकट होकर हिन्दू धर्म के भक्तिभाव की इतनी उन्नति की और उसे इतने ऊंचे दर्जे तक पहुंचाया।

आप लोगों ने थियासोफिकल समाज के काम में विशेष सहायता करने हारे दो महात्माओं के सिवाय निस्सन्देह और महात्माओं के विषय में भी सुना होगा। उदाहरणार्थ एक महात्मा ने मार्ग प्रकाशिनी (Light on the Path) और "श्वेत कमलकी वार्ता" (The Idyll of the White Lotus) ये दो ग्रन्थ लिखवाये। एक और हैं जिनने सारे यूरूप का विशेष कारबार अपने ऊपर ले लिया है। इनने कई अतिउत्तम साहित्य ग्रन्थ लिखे हैं। इनके सिवाय महात्मा ईसा भी हैं जो विशेष करके ईसाई धर्म के सब व्यापारों को ठीक मार्ग से चलाने का प्रयत्न करते हैं। एक महात्मा इस भारतवर्ष के काम की सम्हाल करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जायगा कि जगत् का विकास रामभरोसे नहीं है जैसा लोग बहुधा बिना विचारे मानलिया करते हैं। इसके विपरीत जगत् की व्यवस्था और शासन बहुत चतुराई से किया जाता है। यह महात्मा संघ इस कार्य को यथा सम्भव साधता है। मनुष्य की जो स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है

उसमें बाधा न डाल कर जितनी व्यवस्था हो सके उतनी ये करते हैं। ये महात्मागण अपने प्रतिनिधियों या शिष्यों के द्वारा जगत् के मुख्य २ मनुष्यों के साथ मिलकर काम करने का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं। ये उनके चित्तों में सलाह और सूचनाओं को प्रेरते हैं और उनको सारे जगत् के भ्रातृत्व की ओर चलाने की प्रेरणा करते हैं जिससे आगे चल कर युद्ध का बिलकुल लोप हो जावे। पर हमें यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सब लोगों के कर्म का भी विचार करना पड़ता है और और उसमें बाधा नहीं डाली जा सकती। जगत् की अधिक शीघ्र उन्नति आग्रह से कराना निस्सन्देह सम्भव है पर इससे उन लोगों का वास्तव में लाभ न होगा। महात्मा के० एच० (कुथुमि) ने एक वेर हमें लिखा था, कि हम तुम्हें ठीक २ बता सकते हैं, कि क्या करना चाहिये और तुम उसे ठीक वैसाही करोगे भी, पर उसका फल हमें मिलेगा, तुम्हें नहीं। तुम्हें केवल शीघ्र आज्ञा पालने का फल मिलेगा।

मनुष्यों को चतुर नौकर बनकर ही संतोष न करना चाहिये पर उन्हें सहकारी बनना सीखना चाहिये; क्योंकि किसी दिन उन्हें भी वही काम करना पड़ेगा। यदि वे भविष्य में विशेष जवाबदारी के योग्य बनना चाहते हैं तो उन्हें अभी से छोटी २ जवाबदारी के कार्य साधना चाहिये। यह सत्य है, कि कभी २ किसी को ऐसे काम साधने का प्रसंग मिलता है जिसका असर सारे जगत् में फैलता है। पर ऐसा प्रसंग शायद कई सैकड़ों जन्मों में एक वार आता है और जब वह

आवेगा तो उसको हम तब ही ग्रहण कर सकेंगे जब अभी से हम प्रतिदिन के छोटे २ प्रसंगों को ग्रहण करके उचित मार्ग से जाने की ऐसी आदत बना लेवें कि ऐन बड़े प्रसंग पड़ने पर भी हम बिना प्रयत्न के आप से आप सत्य और योग्य बात को ग्रहण कर सकें। सारे जगत् का हित या अहित करने के मौके प्रायः बहुत कम होते हैं। पर जब हम में छोटी २ बातों में उचित मार्ग सदैव और आप से आप ग्रहण करने की आदत पड़ जावेगी, तब ये महर्षिगण हम को बड़े २ कार्य भी सौंपेंगे।

ये महर्षिगण हमारे समान मनुष्य हैं। जैसा हम लोगों में आपस में एक दूसरे में भेद होता है वैसा इन लोगों में भी आपस में भेद होता है। पर ये हम लोगों से बहुत बढ़े हुए और बहुत ऊंचे पद पर हैं। ज्ञान, शक्ति, और प्रेम उन सब में बराबर हैं पर वे सब कोई एक समान नहीं हैं। जैसे हम लोगों में हर एक मनुष्य अलग प्रकार का होता है वैसे उन में भी है। मनुष्य विकास की सीढ़ी में वे बिलकुल ऊपर हैं और हम बहुत नीचे हैं। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि किसी दिन हम भी उस पद को प्राप्त होवेंगे जहां वे अभी हैं।

एक प्रधान बात उनकी यह है कि उनकी उन्नति सब विषयों में हुई रहती है। हम लोगों की उन्नति किसी बात में अधिक और किसी में कम रहती है। हम लोगों में किसी में विज्ञान विषय की और बुद्धि की बहुत उन्नति रहती है पर भक्ति और दया का भारी अभाव रहता है। किसी में भक्तिभाव की पूर्णता रहकर बुद्धि सम्बन्धी उन्नति बहुत कम रहती है।

महात्माओं की उन्नति इन दोनों बातों में पूर्ण रहती है जैसे महात्मा के० एच० ने अपने पिथेगोरस के जन्म में विशाल बुद्धि दर्शाई और अभी उनमें प्रेम और दया की पूर्णता झलकती है।

पर उनकी आश्चर्यकारक बुद्धि के विषय में हमको भूल न करनी चाहिये। महात्मा (अशेख) पद को प्राप्त होने के लिये और बन्धनों के साथ अविद्या का बन्धन भी त्यागना पड़ता है। लोग बहुधा ऐसा कहते हैं कि अविद्या के त्यागने के लिये पूरा ज्ञान प्राप्त होना चाहिये। पर हमको उन महात्माओं से मिलने से मालूम है, कि वे वास्तव में प्रत्येक बात को नहीं जानते। उदाहरणार्थ ऐसे महात्मा भी हैं जिन्हें सब भाषाओं का ज्ञान नहीं है। कोई २ ऐसे हैं जिन्हें चित्रकारी और संगीत मालूम नहीं है। इसी प्रकार औरों का भी हाल है। हमारी समझ में अज्ञानका बन्धन त्यागने का असल अर्थ यह है, कि उनमें ऐसी शक्ति आ जाती है, कि जिस समय पर उन्हें जिस विषयका ज्ञान प्राप्त करना होवे उसको वे उसी क्षण प्राप्त कर लेते हैं। उनके स्थूल मगज़ में निस्सन्देह सब ज्ञान भरा नहीं है, पर जो ज्ञान उन्हें चाहिये उसे वे उसी क्षण प्राप्त कर सकते हैं। जैसे कई भाषाओं के ज्ञान की बात लेवें। यदि किसी महात्मा को ऐसी भाषा में पत्र लिखना है जो उन्हें नहीं मालूम तो वे बहुधा अपने ऐसे शिष्य के मगज़ का उपयोग करेंगे जिसे वह भाषा मालूम होवे। वे अपने विचारों को उसके मगज़ मे भेजेंगे और उन विच से जो शब्द उत्पन्न होंगे

का वे उपयोग करेंगे। यदि कोई उनसे ऐसी भाषा में बोले जिसे वे न जानते होवें तो इन शब्दों के भीतर जो मनोलोक का विचार है उसको वे तुरन्त ग्रहण कर सकते हैं।

लोग बहुधा यह पूछते हैं, कि यदि इस भूलोक में महात्मा मिलें तो क्या वे उनको तुरन्त पहिचान लेंगे। ऐसे पहिचानने के लिये कोई कारण तो नहीं है। महात्मा बाहर से हृदयग्राही, उदार, संमानयुक्त, पवित्र और शान्त तो अवश्य दिखेंगे। देखनेवाले को ऐसा बोध होगा कि हम अनूठे मनुष्य के पास खड़े हैं। पर उनको महात्मा रूप से जानने के लिये उनके कारण शरीर का दर्शन होना चाहिये; और यह साधारण मनुष्यों को नहीं हो सकता। उनका कारण शरीर बहुत बड़ा होता है। और रङ्गों की व्यवस्था उनमें दूसरे प्रकार की होती है। जो सात बड़े प्रकार महात्माओं के हैं उनमें यह व्यवस्था जुदे २ प्रकार की रहती है। इन सब बातों को पहिचानना साधारण मनुष्य का काम नहीं है।

महात्माओं में कोई बाह्य विशेषता तो होती नहीं है जिससे उनको पहिचान सकें पर उनमें शान्तता और परोपकारता बहुत रहती है। उनके मुखारविन्द पर आनन्दमय शान्ति सदैव दर्शती है। उनमें इतनी शान्ति रहती है, कि जिसे हम समझ नहीं सकते। बहुतों के रूप तो सुन्दर रहते हैं क्योंकि उनके शरीर सब प्रकार निर्दोष हैं और वे स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों के अनुसार रहते हैं। विशेषकर वे किसी बात की चिन्ता नहीं करते। हम लोगों को तो अभी सब प्रकार का बहुतसा संचित

और प्रारब्ध कर्म भोगना है जिसके कारण हमारे स्थूल शरीर का रूप बदल जाता है। उनके कर्म का क्षय तो बहुत काल पूर्व हो चुका है इस कारण उनके उन्नतिप्राप्त कारणशरीर के अनुसार उनके स्थूल शरीर में भी पूर्णता झलकती है। इसलिये महात्मा का शरीर बहुधा अति सुन्दर रहता है। इतना ही नहीं वरन् जब वे कोई दूसरा शरीर धारण करेंगे तब वह भी पुराने शरीर की आकृति का होगा क्योंकि उसको बदलनेवाला कोई कारण तो नहीं है।

दूसरी ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि उनका शरीर हमारे शरीरों की अपेक्षा बहुत काल तक चलता है, जिसका कारण यह है, कि उनमें स्वास्थ्य की अपूर्णता का और चिन्ता का पूर्ण अभाव रहता है। जितने महात्माओं को हम जानते हैं, वे प्रायः सब तरुण दिखते हैं, हालांकि उनके शरीर मनुष्यों की साधारण वय की अपेक्षा बहुत बूढ़े हैं जिसके लिये प्रमाण है। मैडेम ब्लेवेट्स्की को हमने यह कहते सुना है. कि उनके गुरुदेव अब भी ठीक उसी वय के दिखते हैं जैसे उनने उन्हें साठ वर्ष पूर्व अपने बालकपन में देखा था। एक महात्मा (अशेख) पद को अपने इसी जन्म में प्राप्त हुए हैं। इसलिये उनके मुखारविन्द में कुछ रुखाई दीख पड़ती है और यह निस्सन्देह उनके इस जन्म के प्रारब्ध कर्म का फल है। पर हमें इस का विश्वास रखना चाहिये कि जब ये नया शरीर धारण करेंगे तब यह लक्षण न रहेगा।

बहुत करके इनके समान कम बोलनेवाले और कोई नहीं

रहते। जो मनुष्य काम में लगे हुए हैं उन्हें अनावश्यक बात करने के लिये अधिक समय नहीं रहता। महात्माओं के सरीखे काम में लगे हुए पृथ्वी में और कोई लोग नहीं हैं। उनकी चेली मैडेम ब्लेवेट्स्की बहुत मनोहर बात चीत करनेवाली थीं, पर वे केवल बात करने के हेतु ही कभी बात न करती थीं। इसी प्रकार उनका भी हाल है। महात्मा विना प्रयोजन कभी बोलते ही नहीं हैं। और इनका प्रयोजन सदैव उत्साह बढ़ाने, सहायता देने, या चेतावनी देने का रहता है। ये बहुत ही मृदुता और दया के साथ बोलते हैं। इनकी बोली में कभी कभी हास्यभाव भी भरा रहता है, पर वह सदैव दयामय होता है और उसका हेतु मन दुखाने का नहीं रहता, वरन् मार्ग की अड़चनों को कम करने का या आवश्यक झिड़की को कोमल करने का रहता है। जिसमें विनोद भाव नहीं है वह गुप्त ज्ञान की बातों में बहुत उन्नति न कर सकेगा।

जो महात्मा जगत् के विकास में सहायता देने के हेतु अपना स्थूल शरीर बनाये रहते हैं उनकी संख्या छोटी सी है। ऐसे महात्मा कुल पचास साठ होंगे। पर यह याद रखना चाहिये कि इनमें से अधिकांश लोग शिष्य नहीं बनाते क्योंकि वे और दूसरे काम में लगे हुए हैं। इस ग्रन्थ में "दीक्षित" शब्द से उसका अर्थ है जिसने पवित्रता के मार्ग के चार दर्जों में से प्रथम दर्जा तो भी प्राप्त कर लिया है। महात्मा (Adept) शब्द उन लोगों के लिये व्यवहार में आता है जिनने "अशेख" पद प्राप्त करके इस ग्रहमाला का विकास पूरा कर लिया है।

अशेख (अशेष) पद प्राप्त करने वाले की चेतना स्थूलशरीर के जाग्रत काल में निर्वाण अर्थात् आत्मलोक में बहुधा रहती है। पर इन अशेषपदप्राप्त महात्माओं में से बहुत थोड़े अपना स्थूल शरीर संसार के हित के लिये बनाये रखते हैं, जैसा ऊपर लिख आये हैं। और इनमें के कुछ थोड़े ऐसे हैं जो लोगों को कुछ शर्तों पर अपने शिष्य बनाते हैं। इन सब से थोड़े महात्माओं के लिये मास्टर या गुरुदेव शब्द का व्यवहार किया जाता है। ये थोड़े से होवें पर इनका कार्य इतने महत्व का है जिसका विचार नहीं हो सकता क्योंकि उनकी सहायता के बिना लोग दीक्षा के द्वार में प्रवेश नहीं कर सकते।

क्राइस्ट (मसीह) का काम।

भगवान मैत्रेय ऋषीश्वर के (जिन्हें यूरोपवाले क्राइस्ट कहते हैं) भूत और भविष्य कामों का हाल आप पूछते हो। यह विषय विशाल है और उसका पूरा २ हाल कहने की हमको आज्ञा नहीं है। संसार के आध्यात्मिक राज्यप्रबन्ध का एक विभाग या खाता है, जिसका काम धर्मशिक्षा की व्यवस्था करने का है। इसी के द्वारा धर्मों की स्थापना तथा उनकी अंतःप्रेरणा आदि कार्य होते हैं। इसके अधिपति मैत्रेय ऋषीश्वर हैं। कभी ये स्वयं पृथ्वी में प्रकट होकर धर्म की स्थापना करते हैं और कभी यह कार्य ये अपने किसी उन्नतिप्राप्त शिष्य को सौंपते हैं। इनके विषय में यह समझना चाहिये, कि ये पीछे से, मानलो, नित्य एक प्रकार से जोर लगाया करते हैं, जिसमें

उनकी शक्ति का प्रवाह आप से आप ऐसे प्रत्येक स्थान में होवे, जहां कहीं उसे जाने की सम्भावना हो, चाहे वह स्थान या नाली कैसीही क्यों न हो। इस रीति से उनकी क्रिया एक ही काल में सब धर्मों में होती है, और प्रत्येक में जो कुछ भक्तिभाव और स्वार्थत्याग सरीखी अच्छी बातें हों उनका उपयोग किया जाता है।

यह दुःख की वात है, कि ये धर्म्म कभी २ आपस में एक दूसरे की निन्दा करें। पर इससे प्रत्येक धर्म्म के अच्छे २ गुणों का उन ऋषीश्वर द्वारा उपयोग होने में कोई भेद नहीं होता। यही हाल संसार भर की सारी समाजों का या प्रयत्नों का है। प्रत्येक में जो भलाई है, उसी भलाई के द्वारा इतना वल उसमें प्रवाहित होकर उसको तथा संसार को लाभ पहुंचाता है। प्रत्येक में जो बुराई है, उसके कारण, मानलो, उतना वल वेकाम जाता है। यदि लोग विशेष समझदार होते तो बुराई को मिटा कर, उस वल से भी लाभ उठाते। इस धर्म्म विभाग के अधिपतियों के परस्पर सम्बन्ध का वहुत कुछ हाल 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' के बुद्धरहस्य अध्याय में लिखा है। उसमें इन क्राइस्ट के विषय में भी कुछ उपयोगी सूचनाएं दी हैं। यह विषय हमारी समाज के सभ्यों के लिये वड़े महत्वका है क्योंकि हमारे महात्माओं में से एक का इस विभाग से वड़ा घना सम्बन्ध है।

क्राइस्ट के होनेवाले आगमन तथा उनके कार्य्य का हाल अंग्रेज़ी की चेंजिंग वर्ल्ड' (Changing World) नामी पुस्तक

में लिखा है । उनके आगमन का काल बहुत दूर नहीं है। जिस शरीर को वे ग्रहण करेंगे उसका जन्म हो चुका है।

कई हजार वर्ष पहिले इन सब बातों का निर्णय हो चुका है। और साथ २ उस संबंध की कई छोटी २ बातों का भी विधिवार निर्णय हो चुका है। बाकी की बातों में परिवर्तन होने के लिये बहुत कुछ गुंजायश हैं। जो विशाल कार्य ये महात्मा लोग करते हैं उसका एक बहुत आश्चर्यजनक लक्षण यह है, कि कई हजार वर्ष पूर्व से ये अपनी युक्तियों और उपायों का निर्णय कर लेते हैं। हम में से जो लोग ऊंचे लोकों में चेतना सहित जा सकते हैं उन्हें कभी २ उनकी विशाल युक्तियों की झलक देखने को मिलती है; मानलो भविष्य के परदे का एक छोटा सा कोना उनके सामने उठा दिया जाता है। कभी २ हमने उनकी युक्तियों को दूसरी रीति से भी देखा है। बीते हुए युगों की दिव्यदृष्टि द्वारा शोध करने में ये महात्मा ऐसा भविष्य कथन करते हुए दिखाई पड़े हैं जो अभी हमारी आंखों के सामने पूरा होता जाता है।

इस भविष्य दर्शन के समान अति मनोहर और उत्तेजक हमारी जान में दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उनकी युक्तियों की महान् विशालता और प्रताप देख कर मनुष्य आश्चर्ययुक्त हो जाता है और उनकी पूर्ण निश्चितता से चित्त पर बड़ा असर होता है। इस भविष्य रूपी खेल में केवल मनुष्य (व्यक्ति) ही नहीं बरन् सारे देशका भी शतरंज के मोहरों (गोटी) के समान उपयोग होता है। पर व्यक्ति या देश से

उसकी इच्छा के विपरीत आग्रह नहीं किया जाता। किसी कार्य के करने का शुभअवसर देश या व्यक्ति को दिया जाता है। पर यदि वह उसे न करे तो दूसरा करने वाला पूर्वसेही तैय्यार बना रहता है। इस प्रकार कार्यसाधक कोई भी होवे पर यह निश्चय है, कि इच्छित कार्य अवश्यही सधेगा। साधन के सौभाग्य का महत्व साधक को है पर सारे संसार की उन्नति में उसकी कोई महिमा नहीं है। १९०० वर्ष बीते जब टियाना के एपोलोनियस को इस सिद्धसंघ ने एक कार्य साधने के लिये भेजा था। उसका एक अंश यह था; कि कई देशों में जाकर ओजस्शक्तिपूर्ण पवित्र स्थान बनावें। इन चुने हुए स्थलों में गाड़ने के लिये उन्हें कुछ तावीज सरीखे पदार्थ दिये गये थे ताकि उनसे निकलती हुई ओजस् शक्ति के द्वारा ये स्थल शुद्ध होकर भविष्य में बड़ी २ घटनाओं के केन्द्र बनें। इनमेंसे किसी किसी केन्द्रका उपयोग तो हो चुका और किसी किसी का अभी नहीं हुआ है। जिनका उपयोग अभी तक नहीं हुआ है वे सब मैत्रेय ऋषीश्वर के निकटवर्ती भविष्य कार्य में काम आवेंगे। इस प्रकार उनके कार्य के बहुत से व्योरों का निर्णय कोई दो हजार वर्ष पूर्व हो चुका था और तब भी उस कार्य के लिये इस भूलोक में तैयारी हो रही थी। इस पूर्ण निश्चय को एकबार भली भांति समझ लेने से सब प्रकार की शंका, विकल्प चिन्ता और उद्वेगों का नाश हो जाता है; और पूर्ण शान्ति और संतोष आ जाता है। इस प्रकार इस जगत् की व्यवस्था करनेवालों में हमें अति पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न होती है।

महात्माओं का कार्य।

महात्मालोग अपने निज लोक में जो कार्य करते हैं उसे समझना हम लोगों के लिये सरल नहीं है। हम इतना तो समझ सकते हैं, कि उनके उद्योग की हद नहीं है। यद्यपि स्थूलशरीरधारी महात्माओं की संख्या थोड़ी सी है पर इस पृथ्वी के सब विकासों की सम्हाल उनके हाथ में है। मनुष्य-विकास संबंधी कार्य के लिये सारी पृथ्वी के खंड कर लिये गये हैं और प्रत्येक के ऊपर एक एक महात्मा नियत किये गये हैं। ये खण्ड महाद्वीप के समान बड़े हैं। थियासोफ़िकल समाज मानो उस संघ के सदर मुकाम से भेजे हुए लोगों की समाज है। जो लोग उसका कार्य्य करते हैं वे कोई विशेष विभाग के लिये या विशेष धर्म के लिये कार्य्य नहीं करते वरन् सारी मानवजाति के लिये कार्य्य करते हैं। इसी प्रकार महात्मा लोगों की क्रियाएं सारे मनुष्यजाति समूह पर होती है। उनका एक विभाग ऐसा भी है जो दुनियां के बड़े बड़े लोगों को ठीक मार्ग से जाने की अन्तर प्रेरणा करता है, जैसे राजों और राज मन्त्रियों को शांति की प्रेरणा करना, बड़े बड़े उपदेशकों और लेखकों के मन में विशेष उदार विचार उत्पन्न करना, शिल्पकार और चित्रकार लोगों के मनमें उत्तम और ऊंचे प्रकार के विचार सुझाना इत्यादि, जिससे इनके द्वारा सारा जगत् थोड़ा विशेष सुखी और अच्छा होवे।

पर ऐसे विभागों का कार्य्य बहुत कर के उनके शिष्यों को

सौंपा जाता है और महात्मा लोग बहुधा अपनी क्रियाएं कारण-शरीरस्थित जीवों पर करते हैं। जैसे सूर्य्य की किरणों का प्रकाश फूलों पर पड़ने से उनके उत्तम विभाग का विकास और उनकी उन्नति होती है वैसेही इन जीवों पर उनके बलप्रवाह का असर होता है। बहुत से लोगों को ऐसे उपयोगी असरों का भान भी होता है पर वे यह नहीं समझ सकते कि वे कहां से आते हैं। साधारण मनुष्य के कारण शरीर को अरूप खण्ड में किसी बाह्य वस्तु का भान नहीं रहता। उसकी अवस्था प्रायः ऐसी रहती है जैसे अंडे के भीतर मुर्गी के बच्चे की। उसे इसका थोड़ा भी भान नहीं रहता कि हमें गर्मी कहां से मिलती है पर उस गर्मी से उसकी वृद्धि होती रहती है। जब इस अवस्था से बढ़ कर मनुष्य के कारण शरीर की चेतना बहिर्मुख हो जाती है तो इस क्रिया का रूप बदल जाता है और वह अति शीघ्र होने लगती है। मनोलोक के नीचे के विभागों में जो पशुजीवसंघ (Group-souls) रहते हैं उन पर भी इस बलप्रवाह से बहुत असर होता है और वह उनको भी उपयोगी होता है। जैसे सूर्य्य का प्रकाश सारी पृथ्वी पर पड़ता है उसी प्रकार इस बल का प्रवाह सारे लोक में होकर वहां की प्रत्येक वस्तु पर थोड़ा बहुत असर करता है। इस बलप्रवाह की क्रिया में महात्मालोग पर्वों और पवित्र तीर्थस्थलों का भी उपयोग करते हैं। जहां किसी पवित्र मनुष्य की समाधि बनी है या उसकी हड्डी वगैरह गड़ी हैं वहां का ओजस मंडल शुद्ध रहता है और लोगों की भक्ति उस स्थान

की ओर रहने से एक प्रकार की नाली सी बन जाती है। महात्मालोग ऐसी अवस्था का उपयोग करके अपना बलप्रवाह भी इन नालियों द्वारा करते हैं। जब किसी स्थान पर बहुत तीर्थयात्री भक्तिभाव सहित जमा होते हैं तब भी उनपर यही बलप्रवाह होता है। पर तब यह प्रवाह उस मूर्त्ति, जल या वस्तु के द्वारा होता है जिसके द्वारा लोग उसकी आशा करते हैं।

मनुष्यजाति की जितनी उन्नति अभी हुई है वह भी ऊपर से इस प्रकार की सहायता मिलने के कारण ही हुई है। मनुष्य जाति अभी केवल चौथे मन्वन्तर की चौथी परिक्रमा काल में है और साधारण नियमानुसार इस समय अभी केवल वास- नाओं का और मन के विकारों का विकास होना चाहिये। पर हम में अभी बुद्धि (intellect) का विकास हो रहा है जो पंचम परिक्रमा काल का लक्षण है। इस शीघ्र उन्नति का कारण शुक्र लोक से सनत्कुमारादिकोंका हमारी सहायतार्थ पृथ्वी पर आ बसना है। उनसे जो बलप्रवाह हुआ उसको महात्माओं ने हमारे लिये संग्रह कर रखा है। ये महात्मा सदैव स्वार्पण करते रहते हैं जिस में उससे हमारी विशेष उन्नति होवे। इस प्रकार हमारी शीघ्र उन्नति के एक कारण ये भी हैं।

जिन लोगों के ध्यान में यह बात आ गई है या जिन्हें महात्माओं को यह कार्य्य करते देखने का सौभाग्य हुआ है वे कभी ऐसा विचार न करेंगे, कि हम अपने विषय का कोई प्रश्न पूंछ कर उनके इस महान् परोपकारी कार्य्य में बाधा डालें। उनके कार्य्य का महत्व और परिमाण इतना अधिक

है, कि किसी व्यक्ति के निजका कार्य ग्रहण करना उनके लिये संभव नहीं है। जहां ऐसा कार्य करना हीं पड़ता है तो वे उसे शिष्यों को सौंप देते हैं या यक्षों (Elementals) या छोटे देवों (Nature Spirits) के द्वारा करा देते हैं। इसलिये शिष्य का यह प्रधान धर्म है, कि वह अपने को इस हलके कार्य के करने योग्य बना लेवे। यदि वह इसे न कर सकेगा तो वह कार्य पड़ा रह जावेगा क्योंकि महात्मा लोग तो अपने सारे जगत् उपयोगी कार्य को छोड़कर एक मनुष्य के काम को ग्रहण नहीं कर सकते। भुवर्लोक में दैवी सहायक जो काम करते हैं उसको करने योग्य शिष्य यदि न होते तो वह काम पड़ा रहजाता। जब शिष्य उससे भी ऊंचा कार्य साधने के योग्य हो जाता है तो उसे निःसन्देह वह ऊंचा कार्य भी मिलता है।

लोग कभी २ यह प्रश्न पूछते हैं, कि महात्मा अपूर्ण मनुष्यों का इतना अधिक उपयोग क्यों करते हैं। इसका उत्तर यह है, कि उन्हें इस कार्य को स्वयं करने का अवकाश नहीं है इस लिये जैसे मनुष्य मिलें वैसों ही से उस कार्य को करवाना पड़ेगा नहीं तो कार्य विना किया हुआ पड़ा रहेगा। उदाहरणार्थ, मनुष्य जाति के लिये उपयोगी ग्रन्थ लिखने का कार्य लो। यह तो प्रत्यक्ष है, कि महात्मा अपने शिष्यों की अपेक्षा इस कार्य को स्वयं बहुत अच्छी रीति से साध सकते। उनके करने से इस कार्य में किसी प्रकार की अशुद्धता या अपूर्णता रहने की संभावना न रहती। पर उन्हें इस काम के

लिये ज़रा भी अवकाश नहीं है और यदि उनके शिष्य उसे न करते तो वह विना किया ही रह जाता। ये शिष्य वैसी उत्तमता से तो इस कार्य को नहीं साध सकते जैसी उत्तमता से महात्मा साधते पर उन शिष्यों का कार्य साधारण अज्ञानी मनुष्यों के लिये अच्छा है। इसलिये यदि महात्मा उसे करते तो इन शिष्यों को अच्छा कर्म करने का अवसर न मिलता।

हमें सदैव यह याद रखना चाहिये, कि प्रत्येक महात्मा के पास इस बल का परिमित संचय है चाहे वह हम को बहुत बड़ा क्यों न मालूम पड़ता हो। उनका धर्म है, कि उस बल का उपयोग मनुष्यजाति की सेवा में ऐसा होवे, कि उससे अधिक से अधिक लाभ होवे। इसलिये ऐसे उत्तम कार्य को छोड़ कर उस से उतरते कम उपयोगी काम में या किसी व्यक्ति पर, चाहे वह कितना ही योग्यपात्र क्यों न हो, उस बल का खर्च करना महात्मा के लिये (यदि ऐसी बात हमलोग अविनय या अपूज्यभाव के बिना कह सकें तो) बिलकुल अयोग्य होगा।

महात्मा और उनके शिष्य।

पूर्व में हम कह चुके हैं, कि स्थूल शरीरधारी महात्मा लोग थोड़े से हैं। ये जगत् के गुप्त शासन की व्यवस्था करते हैं और सिद्धसंघ उनकी देख भाल रखते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो शिष्य ग्रहण करते हैं जिनके लिये हम यहां 'गुरुदेव' शब्द का व्यवहार करेंगे। अब हमें देखना चाहिये कि गुरुदेव

के शिष्य बनाने का क्या अर्थ है और जो इस पद के प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं उन्हें क्या करना चाहिये।

प्रथम तो हमको यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिये, कि गुरुदेव ने अपने तईं मनुष्यजाति की सेवा के लिये पूर्ण रीति से अर्पण कर दिया है और ये इस कार्य में इतने मग्न हैं, कि किसी दूसरी बात का लेशमात्र भी विचार नहीं कर सकते। पूर्व में यह भी कह आए हैं, कि महात्मा के पास बलसंचय परिमित है चाहे वह हमको बेहिसाब मालूम पड़े। वे उस बल को बड़ी फ़िकर के साथ अति लाभदायक बातों में ख़र्च करते हैं। शिष्य का ग्रहण करना और उसे शिक्षा देना इस काम में उनका कुछ समय ख़र्च होगा और इस बल संचय में से भी कुछ क्षय होगा। वे प्रत्येक कार्य को इस विचार दृष्टि से देखते हैं, कि उससे संसार के विकास में क्या सहायता मिलेगी, इसलिये वे किसी भी शिष्य की शिक्षा में समय और बल को तब तक न लगावेंगे जब तक उन्हें यह खातिरी न हो जावे कि इससे अच्छा लाभ होगा।

वे तबही शिष्य को ग्रहण करेंगे जब उन्हें यह निश्चय हो जावे, कि उसके शिक्षण में जो समय और परिश्रम लगेगा उससे अन्त में उतने ही समय और परिश्रम को किसी दूसरे प्रकार से लगाने की अपेक्षा अधिक फल होगा। यदि ऐसा न होगा तो वे उस शिष्य को ग्रहण न करेंगे। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य में ऐसे बहुत से गुण होवें जिन के कारण वह उपयोगी हो सके पर उसमें कोई एक ऐसा दोष भी होवे जो

कार्य में बहुत सी बाधा डाले और उसके अच्छे काम को बहुत अंश तक बेकाम कर देवे, तो ऐसे मनुष्य को कोई गुरुदेव शिष्य न बनावेंगे। पर वे उसे यह कह सकते हैं, कि तुम जाओ और काम करो और इस अपने दोष को जीत लो। जब तुम उसे जीत लोगे तब हम तुम्हें अपना सहायक बनावेंगे और फिर आगे की शिक्षा देवेंगे।

हमारे उत्साही सभ्यों में से बहुतों में परोपकारशीलता और उदारता बहुत भरी है। दूसरों से अपने को इस प्रकार भिन्न देखकर वे कभी २ अपने मन में यह कहते हैं, कि हम मनुष्यजाति की सेवा के लिये अति उत्सुक हैं, फिर श्री गुरुदेव हमें ग्रहण कर शिक्षा क्यों नहीं देते।

असल बात क्या है सो हम विचार करें। गुरुदेव तुम्हें इस कारण ग्रहण नहीं कर सकते कि तुम में नाना प्रकार के छोटे २ दोष भरे हैं। यह बात सत्य है, जैसा कि तुम अपने मन में सोचते होगे, कि इन सब छोटे २ दोषों की अपेक्षा तुम्हारी उदारता, दया और सहायता देने की बड़ी इच्छा विशेष महत्व की है। पर यह विचारो कि संसार में हज़ारों लोग उदार और परोपकारी हैं और उनमें और तुम में भेद यह है, कि तुम में थोड़ा अधिक ज्ञान है, जिसके कारण तुम अपनी उदारता को उनकी अपेक्षा विशेष उपयोगी बना सकते हो। यदि शिष्य बनने के लिए केवल इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती तो प्रत्येक गुरुदेव के पास हज़ारों शिष्य होते और उनका सारा समय उन कुछ हज़ार मनुष्यों के

भूलोक और भुवर्लोक के दोषों के सुधारने में व्यतीत होता। तब तक गुरुदेव जो ऊँचे लोकों में मनुष्य जीवों पर अति उपयोगी क्रिया करते हैं वह बिलकुल बिना करी पड़ी रहती।

इसलिये गुरुदेव के शिष्य बनने के लिये प्रथम यह आवश्यक है, कि जीवन सम्बन्धी सब विचार केवल इसी दृष्टि से किये जावें कि सारे जगत् के कल्याण के लिये कौनसी बात उत्तम है। अपने विषय का विचार शिष्य को ज़रा भी न करना चाहिये। वह अपने को बिलकुल ही भूल जावे और अपने व्यक्तिभाव का उसे लेशमात्र भी भान न रहना चाहिये। यह कुछ अत्युक्ति या बढ़ा कर बात नहीं कही है परन्तु ठीक वही अभिप्राय है जो उन शब्दों का अर्थ है। उसे अपने विषय की कोई भी इच्छा न होनी चाहिये। उसे जो कार्य करने को दिया जावे उसके अनुकूल अपने सारे जीवन की व्यवस्था कर लेनी पड़ेगी। तब फिर हम में से ऐसे कितने हैं, जो स्वीकृत चेला बनने के लिये इस प्रथम साधन को भी पूरे तन, मन, धन से ग्रहण कर सकें?

शिष्य बनने का अर्थ क्या है सो तो विचारो। जब कोई मनुष्य इस पद के लिये अपने तई अर्पण करता है, तब गुरुदेव उसे तुरन्त ही कह देते हैं, कि हमारी राय में तुम परीक्ष्यमाण शिष्य बनने के योग्य हो अथवा नहीं। यदि उसमें आवश्यक साधन बहुत कुछ अंश तक आ गये हैं तो कदाचित् गुरुदेव उसे परीक्ष्यमाण शिष्य बनावें। इसका अर्थ यह है, कि कुछ वर्षों तक गुरुदेव उसकी बहुत ही बारीक जांच करते रहेंगे।

इस परीक्ष्यमाणकाल का औसत समय ७ वर्ष का है। पर यदि शिष्य संतोषदायक न निकले तो यह अवधि बहुत बढ़ सकती है और यदि शिष्य कटिबद्ध हो कर अपने सुधारने का प्रयत्न करने लगे तो कम भी हो सकती है। किसी २ को इस में तीस वर्ष तक लगे हैं और किसी को पांच और किसी की जांच तीन ही वर्ष में हो चुकती है। एक को केवल पांच मास ही लगे पर यह असाधारण मनुष्य था। इस परीक्ष्यमाणकाल में गुरुदेव से कुछ सीधी बात चीत नहीं होती। न उनसे कोई सीधा संदेशा मिलता है। उनके दर्शन की या उनसे संदेश पाने की संभावना इस अवस्था में बहुत ही कम है। साधारणतः उसके मार्ग में कोई विशेष अड़चन नहीं डाली जाती। पर प्रति दिन की छोटी २ अड़चनों में उसके मन का भाव कैसा रहता है इस को गुरुदेव अच्छी तरह से देखते रहते हैं। इस निरीक्षण के सुभीते के लिये गुरुदेव ऐसे परीक्ष्यमाण शिष्य की एक "सजीव मूर्ति" बनाते हैं। यह उस शिष्य के लिंग शरीर (एस्ट्रल शरीर) और मनोमयकोष की ठीक नकल रहती है। इसको वे ऐसे स्थान में रखते हैं जहां वे उसे सरलता से देख सकें। फिर वे इस मूर्ति का उस शिष्य से एक प्रकार का ओजस् सम्बन्ध लगा देते हैं जिस से उस शिष्य के प्रत्येक विचार या मन के भाव का असर इस मूर्ति में भी ठीक वैसा ही होता है जैसा उसके कोषों में। इस मूर्ति को गुरुदेव प्रतिदिन देखते हैं। इस प्रकार गुरुदेव को अपने भविष्य शिष्य के विचारों और मन के

भावों का सही हाल सरलता से मिल जाता है। इस पर से वे यह निर्णय कर सकते हैं, कि शिष्य अभी दूसरे पद के योग्य हुआ या नहीं जिसे "अङ्गीकृत शिष्य" कहते हैं।

यह ध्यान में रक्खो, कि श्री गुरुदेव ईश्वर का बल बांटने के लिये एक मार्ग या नाली हैं और अचेत नाली मात्र ही नहीं वरन् अति बुद्धिवान् समझनेवाले सहकारी हैं। उनके ऐसे होने का कारण यह है, कि उन्हें इस बात की चेतना है, कि हम ईश्वर के अंश हैं। उसी प्रकार, परन्तु नीचे लोक में, अंगीकृत शिष्य भी अपने श्री गुरुदेव के बलों के लिये नाली है। पर उसे भी अचेत नाली न बनना चाहिये पर बुद्धिवान् सहकारी बनना चाहिये। इस अवस्था के लिये उसे भी वस्तुतः अपने श्री गुरुदेव की चेतना का भाग बन जाना चाहिये।

अंगीकृत शिष्य अपने श्री गुरुदेव की चेतना में इतना अधिक मिल जाता है कि जो कुछ वह देखता या सुनता है उसका ज्ञान श्री गुरुदेव को भी हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है, कि श्री गुरुदेव उसे उसी क्षण देखें या सुनें (हालांकि यह भी बहुधा होता है) पर उसकी खबर श्री गुरुदेव को भी ठीक वैसी ही रही आती है जैसी उस शिष्य को। जो विचार या मन के भाव उस शिष्य में आवें वे श्री गुरुदेव के लिंग शरीर और मनोमयकोष में भी आ जाते हैं। इन सब बातों के परिणाम को अच्छी तरह समझ लेने से यह ज्ञात हो जायगा, कि जब तक शिष्य के विचार और मन के भाव ऐसे न हो जावें जैसे श्री गुरुदेव में रहने के योग्य होवें, तब

तक उस शिष्य को अंगीकृत शिष्य बनाना उनके लिये सर्वथा असंभव है।

कभी कभी दुर्भाग्य से ऐसा होता है, कि ऐसे शिष्य के मन में कोई ऐसा विचार आ जाता है जो श्री गुरुदेव के मन में रहने के योग्य नहीं होता। उन्हें इसका ज्ञान होते ही वे इस कम्प को अपने पास न आने देने के लिये एक आड़ या रोक बना लेते हैं। पर ऐसा करने में एक क्षण के लिये उनका ध्यान अपने काम से हट जाता है और कुछ बल का क्षय भी होता है। तो फिर जिस शिष्य के मन में अयोग्य विचार वार बार आते रहें उसे अंगीकृत शिष्य बनाना और ऊपर लिखी आड़ या रोक वार वार बनाने के लिये अपने काम से चित्त हटाना यह श्री गुरुदेव के लिये विलकुल असंभव है। वे किसी प्रकार इस में अपना समय और वल नष्ट नहीं कर सकते।

ऐसे शिष्य को अंगीकार न करने का कारण यह नहीं है, कि श्री गुरुदेव में उसके लिये दया या धैर्य नहीं है। परन्तु वे अंगीकार केवल इसलिये नहीं करते कि उस में उनके समय और शक्ति का उत्तम उपयोग न होगा। इन दोनों का यथासाध्य अच्छा उपयोग करना उनका परम कर्तव्य है। यदि कोई मनुष्य अपने को चेला बनने के योग्य समझे और इस बात पर आश्चर्य करे, कि मैं अभी तक चेला क्यों नहीं बनने पाया तो उसे चाहिये, कि वह केवल एक ही दिन अपनी जांच बहुत बारीकी से करे और फिर सोचे कि मेरे

मन में ऐसा कोई विचार तो नहीं आया जो श्री गुरुदेव के अयोग्य हो। स्मरण रहे कि खास बुरे या दयाहीन विचार ही उनके अयोग्य नहीं है; वरन् सब प्रकार के क्षुद्र, छिद्र ढूंढ़ने के वा अशांति के विचार और सब से बढ़कर, स्वार्थ संबंधी विचार भी उनके अयोग्य हैं। हम में ऐसा कौन है जिस के मन में इस प्रकार के कोई विचार न आते हों?

इस प्रकार के अत्यंत घनिष्ट सम्बन्ध से श्री गुरुदेव का केवल यही उद्देश्य होता है, कि चेले के सब कोष ऐसे मेल या ऐक्य की अवस्था में हो जावें, कि जिस में उन कोषों का असर परस्पर एक दूसरे पर पड़ सके। इसी अभिप्राय से हिन्दुस्थान के गुरु अपने शिष्यों को अपने निकट रखते हैं। चाहे उन्हें किसी प्रकार की साधना करनी हो या चाहे अध्ययन, हर हालत में गुरु के समीप सदैव रहने से जितना असर होता है उतना केवल साधना या अध्ययन से नहीं होता। कई प्रकार के मनोविकार और इधर उधर के विचार निरंतर उत्पन्न होते रहने के कारण चेले के भिन्न २ कोष अपनी मामूली गति से कंपित होते रहते हैं। प्रत्येक की गति कई और भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। चेले का पहिला और सब से कठिन काम यह है, कि इस गति को ठीक व्यवस्था में लावे, सब प्रकार की छोटी छोटी वासनाओं को दूर करे और इधर उधर के निरर्थक विचारों को अपने मन में उत्पन्न न होने देवे। अपने कोषों पर लगातार कई वर्षों तक इच्छाशक्ति का प्रयोग करके उसे ये सब बातें प्राप्त कर लेनी चाहिये।

जब तक मनुष्य संसार में लिप्त रहता है तब तक बाहर के नाना प्रकार के विचार व मनोविकार उसके मन में घुस आने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं जिससे उसको क्षणमात्र भी शांति नहीं मिल सकती और न अपनी सारी शक्तियों के साथ इस काम में पूरा प्रयत्न करने का मौका मिलता है। इन कारणों से ऊपर कही हुई साधना साधने की अड़चन सैागुनी बढ़ जाती है। हिन्दुस्थान में जो मनुष्य अपना जीवन ऊँचे दर्जे का बनाना चाहता है वह इन्हीं अड़चनों के दूर करने के लिये जङ्गल में जाकर एकान्त वास करता है। इन्हीं कारणों से सभी देशों में और सभी समय में ऐसे मनुष्य होते आये हैं जिन्होंने विचारमय एकान्त जीवन (वानप्रस्थाश्रम) अंगीकार किया है। ऐसे एकान्तवासी मनुष्य को संसार के अनेक झगड़ों से मुक्त होने के कारण निदान एक सिलसिले से विचार करने का मौका तो मिलता है। उसके प्रयत्न में कोई विशेष विघ्न नहीं आते बरन् प्रकृति के शांतिदायक असरों से उसे किसी कदर सहायता मिलती है।

परन्तु जो मनुष्य दीक्षित योगी के समीप सदैव रहता है उसको अपनी साधना में और भी अधिक सुभीता होता है। यह तो हमने मान ही लिया है कि ऐसे गुरु ने अपने सब कोषों को शांत कर लिया है और उन्हें सब प्रकार की गतियों के बदले कुछ अच्छी चुनी हुई विशेष गतियों से ही कंपित होने का अभ्यास पड़ गया है, क्योंकि इसके बिना मार्ग पर अग्रसर होना संभव ही नहीं। इन थोड़ीसी गतियों के वेग बहुत

बलवान् और दृढ़ होते हैं। चेला चाहे जागता हो या सोता, उन कंपों का असर उसके कोषों पर लगातार होता रहता है, जिससे धीरे धीरे वे कोष गुरु के कोषों के समान बन जाते हैं और केवल गुरु के समान कंपों से कंपित हो सकते हैं। परन्तु ऐसा सम्बन्ध बहुत समय तक एक दूसरे के समीप रहने से ही हो सकता है। गुरु का इस प्रकार का सम्बन्ध केवल उसी मनुष्य के साथ हो सकता है जिसके कोष ऐसी दशा में लाने योग्य हों, सब के साथ नहीं। बहुत से गुरु तो पहिले इस बात की बहुत कुछ उन्नति हुए बिना योग की अपनी विशेष विधि नहीं बतलाते; अर्थात् तब तक ऐसी कोई बात नहीं बतलाते जिसके बुरे उपयोग से चेले को सहज में हानि पहुंच सकती हो। गुरु अपनी आंख से देख कर यह निश्चय कर लेते हैं कि यह इस प्रकार की शिक्षा के योग्य है या नहीं और उन गुरुका प्रभाव उस शिष्य पर ऐसा पड़ेगा कि अड़चन के प्रसंग पर वह सत्मार्ग से विचलित न होसके। जिसको श्री गुरुदेव चुनते हैं, उसको तो इससे हज़ारगुना ज्यादा सुभीता होता है, क्योंकि उसको उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का मौका मिलता है।

श्री गुरुदेव के स्वीकृत चेले का तब यही अर्थ है कि वह उनकी ज्ञान प्राप्त करने की एक चौकी या नाली बन जावें अर्थात् वह उनके और साधारण मनुष्यों के बीच एक ऐसा मध्यस्थी हो जावे जिसमें उसके द्वारा महात्माओं का बल साधारण मनुष्यों तक पहुंच सके और इस प्रकार उसके द्वारा

संसार की विशेष भलाई हो। चेले का श्री गुरुदेव के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वह हर वक्त जान सकता है कि अमुक विषय पर हमारे गुरुदेव का क्या मत है, जिसके कारण वह बहुधा भूल करने से बच जाता है। श्री गुरुदेव अपने चेले के मन में जब चाहें तब मन माना विचार उत्पन्न कर सकते हैं और अपना सन्देसा भेज सकते हैं। मानलो कि चेला कोई चिट्ठी लिख रहा है, अथवा व्याख्यान दे रहा है तो वे इस बात को अन्तर्दृष्टि से जान लेते हैं और उस चिट्ठी में शामिल करने योग्य वाक्य या व्याख्यान के लिये कोई उपयोगी दृष्टांत उसके मन में ला देते हैं। शुरू शुरू में बहुधा चेले को इसका कुछ भी भान नहीं होता और वह यही समझता है कि ये विचार हमारे मन में अपने आप उत्पन्न हुए हैं। परन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् वह श्री गुरुदेव के विचारों को पहिचानने लगता है। वास्तव में श्री गुरुदेव के विचारों का पहिचान लेना बहुत आवश्यक है; क्योंकि भुवर्लोक और मनोलोक में ऐसे कई प्रकार के जीव हैं जो हितकारी बन कर, पूर्ण मित्र भाव से, ऐसे विचार उत्पन्न करने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। चेले को यह जान लेना निस्सन्देह बहुत अच्छा है कि अमुक विचार हमारे मन में किसने उत्पन्न किये हैं, श्री गुरुदेव ने अथवा किसी दूसरे जीव ने।

प्रेतावाहन के लिये किसी मनुष्य को मध्यम (Medium) बनाना बुरा है; श्री गुरुदेव के द्वारा चेले के शरीर का ऊपर कही हुई रीति से उपयोग किया जाना इससे बिलकुल

पृथक् है। उदाहरणार्थ—कई मौकों पर महात्माओं ने मिसेज़ बेसेंट के द्वारा भाषण किया है। कहा जाता है कि कभी कभी ऐसे अवसर पर श्रीमती की आवाज़, हाव भाव और मुखमुद्रा भी बदली हुई मालूम होने लगती है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसे सब प्रसंगों पर उनकी चेतना पूरी बनी रहती है। उनको यह भी मालूम हो जाता है कि भाषण करने वाला कौन है और उस भाषण का क्या अभिप्राय है। इस अवस्था को "मध्यम" की अवस्था मान लेना बिलकुल अन्याय होगा; क्योंकि दोनों अवस्थाएँ एक दूसरे से बिलकुल ही जुदी हैं। चेले के शरीर का इस रीति से उपयोग करने में कोई बात एतराज़ के लायक नहीं है। श्री गुरुदेव बहुत ही थोड़े चेलों के शरीर अभी तक इस प्रकार काम में लाये हैं।

जब श्री गुरुदेव श्रीमती एनी बेसण्ट के शरीर का इस प्रकार उपयोग करते हैं तब श्रीमती का स्थूल मस्तिष्क जाग्रत अवस्था में रहता है। वे अपनी वाचा का स्वयं उपयोग न करके उसका उपयोग श्री गुरुदेव को करने देती हैं और आप उनके कहे हुये शब्दों को सुनती रहती हैं। श्री गुरुदेव अपने मस्तिष्क में वाक्य बनाते हैं और फिर उनको इनके मस्तिष्क में पहुँचा देते हैं। जब इस प्रकार का कार्य होता रहता है तब वे अपने मस्तिष्क को श्री गुरुदेव के शब्दों के सुनने, समझने और सराहने के काम में ला सकती हैं। परन्तु हम समझते हैं कि जिस समय श्री गुरुदेव उनके मस्तिष्क से काम लेते हैं ठीक उसी समय वे किसी अन्य विषय पर कोई वाक्य बना

सकें ऐसा सम्भव नहीं। हम समझते हैं कि बहुत ऊंचे दर्जे की "प्रेतावेश्य" अवस्था कुछ कुछ इस क्रिया के निकट आ सकती है; परन्तु बहुत कम, और पूरी पूरी कभी नहीं।

श्री गुरुदेव का प्रभाव इतना बलवान् होता है कि वह शिष्य के शरीर में से चाहे जितना प्रगट हो सकता है। सुननेवालों में से जो मनुष्य इस प्रभाव के ग्रहण करने के योग्य नाज़ुक हैं उनको श्री गुरुदेव की हाज़िरी का ज्ञान यहां तक हो सकता है कि वे उनकी आकृति देख सकें या उनकी आवाज़ पहिचान लेवें। वास्तव में चेले की आकृति में ऐसे कोई परिवर्तन होने की बहुत सम्भावना नहीं है जिसमें वह विकार साधारण गैरनाज़ुक मनुष्य को भी दिख सके। प्रेतावाहन के प्रयोगों में (जिसमें प्रेतों से वार्तालाप होता है) किसी किसी अवसर पर ऐसा देखा गया है कि प्रेतावेश्य (मध्यम) की आवाज़, उसके भाव और उसकी स्थूल आकृति, सब के सब बिलकुल बदल जाते हैं; परन्तु यह तबही होता है जब कि उसके द्वारा बोलनेवाला प्रेत उस पर पूरा पूरा अधिकार कर लेता है। मनुष्य को अपना तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। हमारे महात्माओं की क्रिया में ऐसी बेहोशी कभी नहीं होती।

श्री गुरुदेव और उनके चेले के सम्बन्ध का एक और तीसरा दर्जा होता है, जिसमें पहुंचने पर चेला श्री गुरुदेव का "पुत्र" कहलाने लगता है। पहिले श्री गुरुदेव स्वीकृत चेले का बहुत कुछ अनुभव प्राप्त करलेते हैं और जब उनको इस बात का पूरा भरोसा हो जाता है कि उसके मन और लिङ्ग

(astral) शरीर में ऐसी कोई बात नहीं आ सकती कि जिसके दूर रखने की आवश्यकता पड़े, तबही वे उसको तीसरे दर्जे में लेते हैं। "स्वीकृत चेले" और "पुत्र" में मुख्य अन्तर यह है कि स्वीकृत चेला यद्यपि श्री गुरुदेव की चेतना का अंश होता है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर, वे उसके साथ चेतना के प्रवाह को बंध कर दे सकते हैं; लेकिन "पुत्र" का सम्बन्ध इतना घनिष्ट और पवित्र होता है कि इच्छा करने पर भी श्री गुरुदेव चेतना के प्रवाह को क्षणभर के लिये भी नहीं रोक सकते। इस प्रकार श्री गुरुदेव और उनके चेले के सम्बन्ध के तीन दर्जे होते हैं :—(१) परीक्ष्यमाण काल जिसमें मनुष्य यथार्थरूप से चेला नहीं कहा जा सकता। (२) स्वीकृत चेला होने का काल। (३) "पुत्र" होने का काल। यह समझ रखना चाहिये कि ये तीनों प्रकार के सम्बन्ध दीक्षाओं से या पथ पर की हुई उन्नति से कुछ वास्ता नहीं रखते। दीक्षा श्वेतसङ्घ और उसके प्रतापशाली अधिष्ठाता से सम्बन्ध रखनेवाली बात है। उसका श्री गुरुदेव से कुछ सम्बन्ध नहीं है। कालेज और विश्वविद्यालय का दृष्टान्त लो और इन दोनों के प्रति प्रवेशिका अथवा मध्यमा परीक्षा पास किये हुए विद्यार्थी के सम्बन्ध का विचार करो। विश्वविद्यालय का सम्बन्ध परीक्षाओं से है, परन्तु विद्यार्थी उन परीक्षाओं के लिये किस रीति से तैयारी करते हैं इस बात पर उसका कोई विशेष लक्ष्य नहीं रहता। परीक्षाओं का प्रबन्ध करना और सर्टिफ़िकट देना विश्वविद्यालय का काम है। किसी कालेज के

अध्यक्ष को इससे कुछ मतलब नहीं। उसका काम तो विद्यार्थी को परीक्षा के लिये तैयार करने का है। उसको अधिकार है कि वह अपने विद्यार्थी के साथ चाहे जैसा वर्ताव करे; विश्व-विद्यालय को इससे कुछ प्रयोजन नहीं। सारांश यह है कि विश्वविद्यालय के समान श्वेतसंघ का काम परीक्षा लेने और सनद देने का है और श्रीगुरुदेव का काम कालेज के अध्यक्ष के समान चेले को परीक्षा के लिये तैयार करने का है।

ठीक इसी प्रकार श्री गुरुदेव और उनके चेले के परस्पर सम्बन्ध से श्वेतसंघ का कुछ प्रयोजन नहीं। यह तो श्री गुरुदेव के स्वयं विचारने की बात है। जब वे समझते हैं कि चेला प्रथम दीक्षा ग्रहण करने के योग्य हो गया है तब वे इस बात की सूचना श्वेतसंघ को देते हैं और उसे दीक्षा के लिये उपस्थित करते हैं। वहां यह नहीं पूछा जाता कि गुरुदेव का सम्बन्ध उस चेले के साथ कैसा क्या रहा है, किन्तु यह पूछा जाता है कि चेला दीक्षा के योग्य है या नहीं। यह बात सच है कि दीक्षा के प्रस्ताव का अनुमोदन अशेख पद पर पहुँचे हुए दो महात्माओं के द्वारा होना चाहिये। यह तो निश्चय है कि जब तक श्री गुरुदेव को चेले की योग्यता का पूरा भरोसा नहीं हो जाता तब तक वे उसकी दीक्षा का प्रस्ताव ही नहीं करते। ऐसा भरोसा ऊपर कहे हुए घनिष्ट सम्बन्ध और परस्पर चेतना की ऐक्यता से ही हो सकता है।

जब जिज्ञासु ये सब बातें सुनता है तब उसके मनमें यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि मैं श्री गुरुदेव का चेला किस

प्रकार हो सकता हूँ; मैं ऐसा कौन सा काम करूँ कि श्रीगुरुदेव का ध्यान मेरी ओर आकर्षित होवे। वास्तव में हमें श्रीगुरुदेव का ध्यान आकर्षित करने के लिये कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गुरुदेव तो स्वयं ऐसे मनुष्यों की खोज में रहा करते हैं जिनको वे सहायता देकर अपने बड़े कार्य के लिये उपयोगी बना सकें। हमको इस बात की लेशमात्र चिंता न करनी चाहिये कि श्री गुरुदेव हमारी ओर दृष्टि न करेंगे क्योंकि ऐसा तो हो ही नहीं सकता।

कोई २५ वर्ष पूर्व की एक घटना हमको अभी तक अच्छी तरह याद है। उस समय महात्माओं के साथ हमारा सम्बन्ध हुए बहुत दिन नहीं हुए थे। हमें इस भूलोक में एक मनुष्य मिला। वह बहुत उत्साहयुक्त और पवित्र आचरण का पुरुष था। उसको महात्माओं के होने में पूरा विश्वास था और वह उनकी सेवा के योग्य होना अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझता था और उसके लिये सदैव प्रयत्न करता रहता था। हमको तो वह चेला बनाये जाने के लिये हर प्रकार से योग्य जँचता था। कई बातों में वह हमसे श्रेष्ठ भी था। तब तक वह चेला नहीं बना था। इसका कारण हमारी समझ में नहीं आया। उन दिनों हमको काम करते थोड़ा ही समय हुआ था और हमको इस प्रकार की बातों का ज्ञान न था। इसलिये एक दिन मौका पाकर हमने बड़े विनीत भाव से और क्षमा मांगते हुए श्रीगुरुदेव के सामने उसकी चर्चा की और यह भी संकेत किया कि कदाचित् वह श्री गुरुदेव के कार्य के लिये

विशेष उपयोगी होगा। दयायुक्त मुस्कराहट से श्री गुरुदेव ने हमसे कहा कि तुम मत डरो कि तुम्हारा मित्र छूट जायगा, समय आने पर कोई नहीं छूट सकता। तुम्हारे मित्र को अभी कुछ कर्म भोगना बाकी है, इसलिये वह अभी चेला नहीं बन सकता। वह जल्दी मरने वाला है और मरने के बाद शीघ्रही उसका पुनर्जन्म होगा तब उसके कर्म का प्रायश्चित्त हो चुकेगा और जो कुछ तुम उसके लिये अभी चाहते हो वह तब हो सकेगा।

इसके उपरान्त उन्होंने अपनी स्वाभाविक दया से हमारी चेतना अपनी चेतना में विशेष रूप से मिला ली और उसे इतने ऊँचे लोक तक लेगये कि जहाँ उस समय हमारी पहुँच हो ही नहीं सकती थी। श्रीगुरुदेव संसार को किस प्रकार अपनी दृष्टि में रखते हैं यह बात उन्होंने हमें बतलाई। सम्पूर्ण पृथ्वी और उसके ऊपर के लाखों जीव हमारी दृष्टि के सामने आनपड़े। अधिकतर जीव विकसित न होने के कारण उनमें कोई विशेषता दृष्टि नहीं पड़ती थी। पर कोई बिरला जीव ऐसा भी था जो ऐसे स्थान की तरफ़ जा रहा था (यद्यपि तब भी वह उससे बहुत दूर था) कि जहां पहुँचने पर मनुष्य श्रीगुरुदेव के कार्य में सहायक हो सकता है। इतने बड़े झुंड में जहां कहीं ऐसा मनुष्य था तो वह अन्धेरे में प्रदीप्त दीप शिखा की नाईं निराला ही दिखाई पड़ता था। श्रीगुरुदेव ने हमसे कहा कि अब तुम जान गये होगे कि यदि किसी मनुष्य में ऐसी योग्यता होवे कि जिसमें वह थोड़े समय में परीक्ष्यमाण शिष्य बनाया जा सके तो वह दृष्टि से ओट नहीं हो सकता।

ऐसी हालत में हमारा यही कर्तव्य है कि हम अपने आचरण शुद्ध करने का प्रयत्न करते रहें, ब्रह्मविद्या की पुस्तकें पढ़ें, आत्मोन्नति करते रहें और परोपकार में निःस्वार्थ प्रेम रखें। सारांश यह है कि इच्छित पद पर पहुँचने के सौभाग्य के लिये हमें इस प्रकार प्रयत्नशील रहना चाहिये और सदैव इस बात का निश्चय रखना चाहिये कि जब हम चेला बनने के योग्य हो जांयगे तब अवश्य ही बनाये जायेंगे। हम इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकते। समय आने पर श्रीगुरुदेव हमें अवश्य ग्रहण करेंगे क्योंकि उन्हें सहायकों की बहुत बड़ी जरूरत है। श्रीगुरुदेव अपने बलका उपयोग बहुत किफ़ायत से करते हैं। अर्थात् थोड़े बलसे ज्यादा से ज्यादा जितना काम निकल सकता है उतना निकालते हैं। वे हमको तभी ग्रहण करेंगे जब उनको इस बात का पूरा भरोसा हो जायगा कि हमारे लिये उन्हें जितने बलका प्रयोग करना पड़ेगा और उससे जो फल हमारे कार्य द्वारा निकलेगा, उससे अधिक फल उतने ही बल को अन्य रीति से काम में लाने से न निकल सकेगा। ऐसा किये बिना हमारे साथ घना सम्बन्ध स्थापित करना उनके धर्म के विपरीत होगा।

हमें इस बात का निश्चय रखना चाहिये कि उपरोक्त नियम के विरुद्ध कोई भी मनुष्य चेला नहीं बन सकता। हमको चाहे ऐसा मालूम पड़े कि किसी किसी में प्रगट दोष रहने पर भी वे परीक्ष्यमाण चेले बना लिये गये हैं; परन्तु निस्सन्देह उन

मनुष्यों में कुछ भीतरी गुण इतने अच्छे हैं कि उनकी ऊपरी त्रुटियों को सहज में दबा देते हैं। अर्थात् उनके सामने वे त्रुटियां किसी गिनती में नहीं रहतीं। दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि हम लोगों के समान महात्माओं के भी कुछ कर्मके सम्बन्ध हुआ करते हैं। इसलिये यदि किसी मनुष्य ने अपने किसी पिछले जन्म में उनकी कोई सेवा की है तो वह उनकी विशेष कृपा का अधिकारी होता है। पिछले जन्मों का शोध करते हुए इस प्रकार के कर्म-सम्बन्ध के कई दृष्टान्त हमारे देखने में आये हैं।

इसका एक प्रसिद्ध दृष्टान्त इस समाज के एक मेम्बर का है। ६००० वर्ष पहिले वह मिश्र (ईजिप्त) देश में एक बड़े पद का अमीर था। उसने वहां के एक बड़े मन्दिर के अधिकारियों पर दवाव डालकर किसी युवा पुरुष को उस मन्दिर में विशेष सुभीते के साथ ज्ञानाभ्यास करने के लिये भरती करा दिया था। उस युवा को गुप्तविद्या में बहुत रुचि थी। उसमें उसने चमत्कारिक उन्नति की और तब से उसने पुराने "खेम" ग्राम में प्रारम्भ की हुई विद्या का अभ्यास हर जन्म में कायम रक्खा। कालांतर में उन्होंने अशेख पद प्राप्त कर लिया और इस तरह अपने पुराने मित्र से जिसने उनको मन्दिर में भरती कराया था बहुत आगे बढ़ गये। इन महात्मा को जो हाल में काम करना पड़ता है उसके अन्तर्गत उन्हें उचित समय आया जानकर इस दुनिया में कुछ ज्ञान प्रगट करना था। उनको एक ऐसे सहकारी की आवश्यकता पड़ी

कि जिसके द्वारा यह ज्ञान प्रगट किया जा सके। इस कार्य के लिये उपयुक्त आदमी की खोज करते हुए उन्हें यह जान पड़ा कि हमारा पुराना मित्र और ६००० वर्ष पहिले का सहायक इस काम के लिये ठीक होगा। इस तरह उसको उस ज्ञान के प्रगट करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ और वे महात्मा इस प्रकार उसके पुराने ऋण से मुक्त हुए।

ऐसे कई दृष्टान्त हैं। हम सब जानते हैं कि इससे भी बहुत काल पहिले थियासोफ़िकल समाज के दो स्थापकों में से एक ने एक जन्म में दूसरे के प्राण बचाये थे। जिसके प्राण बचे थे वह (मैडेम ब्लेवेट्स्की) उस समय एक ऐसे सत्पुरुष का ज्येष्ठ पुत्र था जो कि अब महात्मा पद को प्राप्त हो चुके हैं और उन दोनों के गुरु भी हैं। तब से सदैव इन तीनों में कर्म भोग से निकट सम्बन्ध रहता आया है। इसी तरह बहुत पुराने युग में हमारी श्रीमती एनी बेसेंट के वर्तमान गुरुदेव के मारडालने के लिये कपट प्रबन्ध रचा गया था। उस समय श्रीमती ने उनके प्राण बचाये थे। एक और दृष्टान्त है जिसमें उन महाशय ने जिनको हाल ही में दीक्षा मिली है, एक जन्म में बोधिसत्व अर्थात् स्वयं भगवान् मैत्रेय ऋषीश्वर के प्राण बचाये थे।

निस्सन्देह ये सब कर्म के सम्बन्ध हैं। उनका पूरा पूरा बदला मिले बिना नहीं रह सकता। तब ऐसा हो सकता है कि हम में से किसी किसी का सम्बन्ध गत किसी जन्म में वर्तमान् समय के किसी एक महात्मा से रहा हो या उनकी कोई

छोटीसी सेवा बन पड़ी हो और उस समय से हमारा सम्बन्ध उन महात्मा के साथ प्रारम्भ हो गया हो और अन्त में वे हमको अपना शिष्य बनावें। अकसर ऐसा भी होता है कि लोगों में गुप्तविद्या की ओर एक ही सा दृढ़ प्रेम होने के कारण वे आपस में एक दूसरे की तरफ़ आकर्षित होते हैं और आगे के जन्मों में जब उनमें से कोई अपने भूतपूर्व साथियों से विद्या में बहुत आगे बढ़ जाता है तब उनमें गुरु शिष्य का सम्बन्ध हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य महात्माओं का ध्यान अपनी तरफ़ कई प्रकार से आकर्षित कर सकता है। अपने से उच्च दशा के मनुष्यों की सङ्गति से, दृढ़ता पूर्वक एकाग्र मन से विचार करने से, भक्ति द्वारा अथवा सत्कर्म करने के लिये उत्साह पूर्वक प्रयत्न करते रहने से वह अपने को दीक्षा के योग्य बनावे। यद्यपि ये उपाय अलग अलग हैं, तथापि वे सब एक ही मार्ग के विभाग हैं; क्योंकि उनमें किसी एक का भी अवलम्बन करने से मनुष्य महात्माओं के कार्य की किसी एक शाखा में सहायता देने के योग्य बनता है। इसलिये जब वह इनमें से किसी उपाय से एक विशेष दर्जे तक पहुँच जाता है तो निस्सन्देह वह महात्माओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है और उनके साथ उसका किसी एक प्रकार का सम्बन्ध बन जाता है। यह सम्बन्ध बहुत करके भूलोक में नहीं बँधता। महात्माओं का साधारण तरीका यह है कि वे उसका सम्बन्ध भूलोक में अपने किसी मुख्य चेले से करा देते हैं। यह तरीका

सब से अधिक हानि रहित है; क्योंकि साधारण मनुष्य को भुवर्लोक से प्राप्त ज्ञान की ठीक जांच करना सम्भव नहीं है।

भुवर्लोक में बहुत से साधारण बुद्धि के प्रेत हैं जो संसार के उपदेशक बनने की उत्कट इच्छा रखते हैं। यदि किसी को प्रेतावेश्यों का बहुत बड़ा अनुभव न हो तो वह इन प्रेत लोगों का यथार्थ हाल नहीं जान सकता। उनका अभिप्राय बहुधा अच्छा रहता है। वे समझते हैं कि हम अपने उपदेश के द्वारा संसार का कल्याण कर सकते हैं। वे लोग भूर्लोक में तो मर चुके हैं। इस से उनको अच्छी तरह मालूम हो गया है कि इस संसार के पदार्थों में कुछ सार नहीं है। वे ऐसा भी समझने लगते हैं कि जो विचार हमारे मन में आये हैं उनका असर अगर मनुष्य जाति पर हो सके तो संसार की दशा बिलकुल बदल जायगी। उनका ऐसा समझना ठीक भी है। उनको इस बात का भी निश्चय हो जाता है कि हमारे नये विचार भूर्लोक में प्रगट करने भर की देर है कि मनुष्य मात्र को उसकी अन्तर्गत सार्थकता पर पूरा भरोसा हो जायगा। अपने विचार प्रगट करने के लिये वे एक ऐसी स्त्री ढूंढ़ लेते हैं जिस पर उनका असर पड़ सके। वे उसको यह बतला देते हैं कि हमने तुमको दुनिया भर में से इसलिये चुना है कि तुम्हारे द्वारा उत्तम उत्तम सिद्धान्त प्रगट करें।

बहुतों में से अकेले अपना एक ऐसे साधन बन सकना कि जिसके द्वारा कोई बड़ा जीव अपने उत्तम और ऊंचे २ सिद्धान्त

प्रगट करे, यह साधारण मनुष्यों के लिये बड़े गौरव की बात है। ऐसा आदेश करनेवाला चाहे कहे कि हम कोई वड़े जीव नहीं हैं (अकसर तो ऐसा नहीं कहता) परन्तु यह बात प्रशंसनीय विनय के कारण कही हुई मानी जाती है और लोग उसको अगर ईश्वर का अवतार नहीं तो निदान कोई बड़ा स्वर्गीय दूत तो अवश्य ही मान लेते हैं। वह जीव जब भूलोक में था तब भी अनेक प्रेत लोग उसके समान प्रेतावेश्यों के द्वारा इस प्रकार के सन्देसे भेजा करते थे। परन्तु तब वह उनपर ज़रा भी ध्यान न देता था और न उनके कथन का उसपर कुछ असर होता था। लेकिन इस बात को वह बिलकुल ही भूल जाता है। वह इसका तनिक भी विचार नहीं करता कि जब हम संसार में लिप्त थे, तब हमारे ऊपर ऐसे सन्देशों का कुछ भी असर न होता था और उसी प्रकार अब दूसरे लोग हमारे सन्देशों पर ध्यान न देकर अपने अपने कामों में सन्तुष्टतापूर्वक लगे रहेंगे।

भुवर्लोक के ऐसे प्रेत जो इस संसार में अपने सिद्धान्त प्रगट करना चाहते हैं, बहुधा प्रसिद्ध पुरुषों के नाम धारण कर लेते हैं। इसमें उनका कोई बुरा उद्देश्य नहीं रहता, वे लोगों के स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। उनको मालूम रहता है कि यदि "रामप्रसाद या पूरनलाल" अर्थात् ऐसे प्रेत, जो जीवित अवस्था में भूलोक में प्रख्यात न थे, कोई सिद्धान्त बतलाना चाहें तो लोग उसको ग्रहण न करेंगे चाहे वह कितना अच्छा और सच्चा क्यों न हो परन्तु यदि वही बात "जार्ज

वाशिंगटन" "जूलियस सीज़र" या स्वर्गीय महादूत मिचल सरीखे प्रसिद्ध पुरुषों के प्रेत कहें तो निदान उसका असर तो होगा और कदाचित् उस पर लोगों का अन्ध विश्वास भी हो जावे।

भुवर्लोक में काम करनेवाले लोगों को उन मनुष्यों के विचार और मनोविकार एक दर्जे तक मालूम हो जाते हैं जिनके साथ उन्हें व्यवहार करना पड़ता है। तब कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब वे प्रेत किसी थियेसोफ़िस्ट से मिलते हैं और जान लेते हैं कि उसके हृदय में महात्माओं के लिये अत्यन्त आदर है तो कभी कभी वे अपने को महात्मा ही कहने लगते हैं, जिसमें वह उनके विचारों को शीघ्र ग्रहण कर लेवे। स्मरण रहे कि ऐसे भी जीव होते हैं कि जो महात्माओं से द्वेषभाव रखते हैं और जहां तक उनसे बन पड़ता है उन्हें हानि पहुंचाना चाहते हैं। वे लोग खुद महात्माओं की तो कोई बुराई करही नहीं सकते। इसलिये महात्माओं के प्यारे शिष्यों के द्वारा उन्हें हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। अड़-चनें पैदा करने का सबसे सहज तरीका यह है कि चेले को जिस महात्मा के लिये बहुत आदर हो ये जीव उन्हीं महात्मा का रूप धारण कर लेवें।

बहुधा उनका धारण किया हुआ स्थूल रूप महात्मा के स्वरूप से बिलकुल मिलता है। परन्तु हम समझते हैं कि उनकी आँखों में महात्मा का भाव नहीं आ सकता। जिन लोगों ने और ऊंचे लोकों की दृष्टि प्राप्त कर ली है वे कभी इस प्रकार

धोखा नहीं खा सकते। क्योंकि वे द्वेषभाववाले जीव अपना कारणशरीर महात्मा के कारणशरीर के समान नहीं बना सकते।

"वायस आफ दि साइलेन्स" नाम की पुस्तक में कहा है कि "अपने गुरु को इन माया के प्रदेशों में मत ढूंढ़ो।" इस सदुपदेश पर सदैव ध्यान रखना निस्सन्देह बहुत अच्छा है। ऐसे जीव से जो अपने आप उपदेशक बन बैठा हो कभी कोई उपदेश ग्रहण मत करो। भूर्लोक में जैसे तुम एक अपरिचित मनुष्य की बात पर ध्यान नहीं देते वैसे ही इस जीव की कही हुई बात पर भी ध्यान मत दो। अमुक उपदेश किस के नाम का बताया जाता है इसका विचार मत करो; यदि वह तुम्हारी बुद्धि में अच्छा जंचे तो उसको ग्रहण करो नहीं तो नहीं। ऐसी शिक्षाकी खोज में रहो जो तुम्हारी बुद्धि में अच्छी समझ पड़े। चाहे जिसका उपदेश बतलाया जावे पहिले उसकी जाँच विवेक और बुद्धि से कर लो।

इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि जिस मार्ग पर हम चलते हैं वही सिर्फ एक मार्ग नहीं है; वरन् और और मार्ग भी हैं। जिन दो महात्माओंका ब्रह्मविद्यामण्डल (थियासोफिकल समाज) से घनिष्ट सम्बन्ध है उन दोनों की शिक्षा पद्धति दो भिन्न भिन्न किरणों के आधार पर है; अर्थात्—जुदी जुदी है। इनके सिवाय और भी दूसरे तरीके हैं। सभी प्रकार की ऊंचे दर्जे की शिक्षा में सब से पहिले आचरण को शुद्ध करना सिखाया जाता है; और इसके लिये गुरु पृथक् पृथक् शिक्षा

देते और अभ्यास वतलाते हैं। परन्तु श्वेतसंघ से सम्बन्ध रखने-वाले सभी गुरु इस बात पर जोर देते हैं कि परंपद की प्राप्ति केवल पवित्र जीवन और इच्छाओं को जीत कर उन्हें शांत करने से हो सकती है। इच्छाएं दमन करने से ही शांत हो सकती हैं न कि उनको तृप्त करने से।

श्री गुरुदेव अपने चेलों से कई प्रकार के काम लेते हैं। किसी किसी चेले को "दैवी सहायक" नाम की पुस्तक में वतलाये हुए कामों में लगा देते हैं। कोई कोई स्वयं महात्माओं को उनके हाथ में लिये हुए काम में सहायता देते हैं। कोई कोई भुवर्लोक में ऐसे जीवों को व्याख्यान देते हैं जिन्हों ने थोड़ी ही उन्नति की है, अथवा दूसरे ऐसे लोगों को शिक्षा या सहायता देते हैं जो या तो स्थूल शरीर की निद्रावस्था के कारण थोड़ी देर के लिए मुक्त होकर भुवर्लोक में आये हैं या जो भूर्लोक में मर कर भुवर्लोक के पक्के निवासी हो गये हैं। रात्रि को जब चेला सो जाता है तब वह अपने सूक्ष्म शरीर में श्री गुरुदेव के पास उपस्थित होता है और यदि उस समय उसके करने लायक काम हुआ तो वे उसको वतलाते हैं। यदि कोई विशेष कार्य न हुआ तो वह रोज़ रात को जो काम करता है उसके करने में लग जाता है। भूर्लोक में जिस प्रकार वैद्य लोगों के सुपुर्द कुछ रोगी रहा करते हैं ठीक उसी तरह प्रत्येक दैवी या अदृश्य सहायक के सुपुर्द भी कुछ ऐसे लोग रहते हैं जिनको किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता होती है। जब दैवी सहायक को कोई ख़ास काम करने को

नहीं रहता तो वह उन लोगों के यहां चक्कर लगाता है और जहां तक उससे होता है उनकी सहायता करता है। खास काम का उदाहरण यह है जिसमें किसी दुर्घटना के कारण बहुत से जीव एक दम मर जाते हैं और भयभीत अवस्था में भुवर्लोक में प्रवेश करते हैं। ऐसे प्रसङ्ग पर भी वह सहायता का काज करता है, परन्तु जब इस प्रकार का कोई काम नहीं होता तब भी दैवी सहायक को ऊपर कहे हुए अनुसार रोज़मर्रा का बहुत सा काम करने को रहता है जिससे वह फ़ुरसत में नहीं रह सकता। भुवर्लोक में काम करने का अभ्यास बहुधा श्री गुरुदेव के उन्नति प्राप्त चेले कराते हैं।

यदि इस बात की आवश्यकता होवे कि चेला भूर्लोक में किसी प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति या सिद्धि प्राप्त करे तो श्री गुरुदेव स्वयं या अपने किसी प्रगट चेले के द्वारा उसको बतला देते हैं। उस सिद्धि की प्राप्ति के लिये जिन जिन क्रियाओं की आवश्यकता होती है वे चेले के स्वभाव और ज़रूरत के मुताबिक अलग अलग होती है। इसलिये जब तक हमको ठीक ठीक न बतला दिया जावे तब तक ऐसी कोई क्रिया न करनाही अच्छा है। जब कोई क्रियाएं बतला दी जावें तो उनको दूसरों को प्रगट न करनी चाहिये और न उनके विषय में उनसे वाद विवाद करना चाहिये क्योंकि प्रायः निश्चय है कि वे दूसरों के लिये योग्य न होंगी। हिन्दुस्थान में छोटे छोटे गुरु सैकड़ों हैं और उनकी क्रियाएं भी अलग अलग होती हैं; यह अन्तर कुछ तो उनके भिन्न भिन्न शास्त्रों के

अनुयायी होने के कारण होता है और कुछ एकही बात को अलग अलग दृष्टि से देखने के कारण होता है। उनकी क्रियाएं चाहे जो हों, वे उन्हें बहुत गुप्त रखते हैं जिससे उनका बुरा उपयोग न होवे।

इन क्रियाओं का आधा सम्बन्ध स्थूल शरीर से भी रहता है अर्थात् उनमें स्थूल शरीर का उपयोग किया जाता है जैसा कि हठ योग में। बिना विचारे इन क्रियाओं को सब को प्रगट कर देने से जो हानि होती है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण अमेरिका देश में पाया जाता है। वहां पर एक हिन्दुस्थानी गुरु की बनाई हुई पुस्तक का बहुत प्रचार हो गया है। उन्होंने कुछ कुछ क्रियाएं सावधानी से लिखी हैं और प्रारम्भ में यह भी स्पष्ट लिख दिया है कि उन क्रियाओं का अभ्यास करने के पहिले आचरण शुद्ध करना बहुतही आवश्यक है। इतने पर भी उनकी पुस्तक से लोगों को बहुत कष्ट पहुंचा है क्योंकि सबही लोगों ने उनकी आचरण शुद्ध करने की चेतावनी पर बिलकुल ध्यान न देकर उनके कहे हुए अभ्यास एक दम शुरू कर दिये। कुछ वर्ष हुए जब हम उस देश में भ्रमण कर रहे थे तब हमें कई लोग ऐसे मिले जिनकी आरोग्यता उन गुरु की लिखी हुई क्रियाओं के करने से बिलकुल खराब हो गई थी। कोई कोई पागल हो गये थे, किसी को मूर्च्छा आने लगी थी और किसी किसी को प्रेत बाधा होने लगी थी। इस प्रकार के अभ्यास करने में कोई हानि न पहुँचे इसलिये उसे गुरु के सामने करना बहुत आवश्यक है जिसमें वे देखते रहें

और जब कोई नुकसान होता हुआ देखें तो सम्हाल लेव। हिन्दुस्थान में तो ऐसाही किया जाता है। इस देश में तो यह मामूली बात है कि चेला अपने गुरुके पास रहे। क्योंकि जो बात हमने कुछ समय पहिले कही थी उसको यहां के लोग समझते हैं। अर्थात् वे इस बात को जानते हैं कि गुरु सबसे पहिला और मुख्य काम यह करते हैं कि वे चेले के ओजस् के कंपन की गति को अपने ओजस् की गति के समान कर लेते हैं; उसको ऐसा बना लेते हैं जिसमें उस पर संसार की अशांति का असर न पड़ने पावे। उसको अशांति का त्याग करने और शांति ग्रहण करने की रीति बतला देते हैं। हमारे ही एक महात्मा ने शुरू शुरू में अपनी एक चिट्ठी में लिखा था कि अपना संसार छोड़ कर हमारे संसार में आजाव; यहां "संसार" शब्द स्थानवाची नहीं है; परन्तु मन की दशा का सूचक है।

स्मरण रक्खो कि जो मनुष्य महात्मा का ध्यान करता है उसका खास संबंध उनके साथ बँध जाता है और जिनको दिव्य दृष्टि होती है उनको यह संबंध दोनों के बीच की एक प्रकार की प्रकाश की रेखा के रूप में दिखाई देता है। श्री गुरुदेव की भीतरी चेतना में इस रेखा के स्पर्श के संघात का भान सदैव बनारहता है और उसके उत्तर में वे उसी रेखा से ओजस् का दृढ़ प्रवाह भेजते हैं। यह प्रवाह ध्यान पूरा हो चुकने के बाद बहुत देर तक रहा आता है। इस प्रकार के ध्यान और चित्त की एकाग्रता को नियम पूर्वक करने से

जिज्ञासु को बहुत लाभ होता है। परन्तु नियम इसमें बहुत मुख्य है। यह अभ्यास रोज़ रोज़ नियत समय पर होना चाहिए। यद्यपि हमें उसका कोई प्रत्यक्ष फल न भी दिखाई देवे तो भी उसे दृढ़ता पूर्वक करते जाना चाहिये। जब हमें कोई फल दिखाई न देवे तो इस बात की ख़बरदारी रखना चाहिए कि हमारे मन में उदासी पैदा न होवे। क्योंकि उदासी हमारे ऊपर श्री गुरुदेव का प्रभाव पड़ने में बहुत बाधा डालती है और उससे यह भी मालूम होता है कि हमारा लक्ष्य जितना स्वार्थ की तरफ है उतना श्री गुरुदेव की तरफ़ नहीं है।

उन्नति का मार्ग।

सारा व्यक्त जगत् ईश्वर से ही उत्पन्न हुआ है। हम और सब ईश्वरीय ज्वाला की चिनगारियां मात्र हैं, जो एक दिन उसी ज्वाला में फिर जा मिलेंगी। जब हम इस बड़े सिद्धांत को कहते हैं तो लोग हमसे दो स्वाभाविक प्रश्न पूछते हैं। प्रथम तो यह कहा जाता है कि जब हम ईश्वर के अंश हैं और इसलिये शुरू से हम में ईश्वर की सत्ता है तो फिर उसने हमको इस संसार में किस लिये भेजा? जब कि ईश्वर प्रारम्भ ही से पूर्ण, प्रतापी और सब ज्ञान का भंडार है तो उसने प्रकृति को किस लिये अंगीकार किया अर्थात् सगुण रूप क्यों धारण किया? दूसरा प्रश्न यह पूछा जाता है कि जब हमारी उत्पत्ति स्वयं परमात्मा से है तो फिर हम दुराचारी क्यों हुए। ऐसे पवित्र स्थान से उत्पन्न होने पर भी मनुष्य ऐसी हीन दशा को क्यों

पहुँचा जैसी कि हम चारों तरफ़ देख रहे हैं ? जब ये प्रश्न वारबार पूछे जाते हैं तो हमको इस बात का विचार करना उचित है कि उनका उत्तर क्या हो सकता है।

ईश्वर प्रकृति में क्यों प्रकटा इस बात से तो हमें कुछ मतलब ही नहीं है। हमको इतना जान लेना वस है कि ईश्वर ने संकल्प ही ऐसा किया है और हम लोग उस संकल्प (तद्वीर) के अंश हैं इसलिये हमारा यह कर्तव्य है कि उस संकल्प रूपी विकासक्रम को यथाशक्ति समझें और अपने को उसके अनुसार बनाने का प्रयत्न करें। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस रहस्य पर कुछ अनुमान करना चाहते हैं तो उनको ज्ञानवादी (Gnostic) *सम्प्रदाय के इस उत्तर से दूसरा अच्छा उत्तर नहीं मिल सकता कि "ईश्वर प्रेमरूप है; परन्तु प्रेम स्वयं तभी पूर्ण कहा जा सकता है जब कोई ऐसी व्यक्तियां हों जिन पर प्रेम की वर्षा की जावे और जो वदले में ईश्वर को प्रेम कर सकें। इसलिये उसने अपना एक अंश प्रकृति में डाला और अपने असीम प्रताप को सीमा बद्ध किया। इस विकास की स्वाभाविक और धीमी क्रिया के द्वारा हम मनुष्य योनि में, और फिर उसकी इच्छा के अनुसार उन्नति करते करते उसी के दर्जे को पहुँच जावें। ऐसा होने से ईश्वर का प्रेम अधिक पूर्ण होगा, क्योंकि तब वह उसकी वर्षा अपने बालकों (हम) पर करेगा। तब हम लोग ऐसी अवस्था को

* ईसाइयों का एक संप्रदाय जो पहिली से सातवीं शताब्दि में हुआ। अनु०

पहुँच चुकेंगे कि हम उसको पूरी तरह से समझेंगे और उसका बदला प्रेम के रूप में ही दे सकेंगे। ऐसा होने से ईश्वर का संकल्प (तद्बीर) सार्थक होगा और उसकी इच्छा भी पूर्ण होगी"।

निःसरण (जगत् रचना) इसी एक प्रकार से क्यों हुआ इस पर और अधिक विचार करना भी हमारा काम नहीं है; क्योंकि हमें तो विकास के सिद्धान्तों से ही मतलब है न कि उसके कारणों से। परन्तु तो भी इसका उत्तर जिस रीति से मिल सकता है निदान उसकी सूचना देने में तो कोई कठिनाई मालूम नहीं पड़ती। यह बात तो बिलकुल सच है कि मनुष्य का आत्मा ईश्वर से निकला हुआ है; परन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि वह आत्मा शुरू शुरू में अभिन्न या अव्यक्त रहता है और न हमारी दृष्टि से उसमें चेतना ही रहती है। परन्तु उसमें चेतना प्राप्त करने की योग्यता अवश्य रहती है।

जब यह ईश्वरीय तत्व प्रकृति में उतरता है तब वह जिन जिन लोकों में से जाता है वहां वहां के पदार्थ उसके आसपास इकट्ठे होते जाते हैं। जब तक यह विकास की सबसे नीची योनि अर्थात् खनिज वर्ग में पहुँचने के बाद ऊपर की ओर अर्थात् अपने निज धाम की ओर नहीं लौटने लगता तब तक उसमें नाम मात्र को भी चेतना का विकास नहीं होता। यही कारण है कि मनुष्य की चेतना का विकास पहिले पहिल भूर्लोक में होना शुरू हुआ। भूर्लोक में चेतना का पूरा पूरा विकास हो चुकने पर उसका विकासक्रम क्रम से भुवर्लोक और स्वर्लोक में होने लगता है।

इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से मनुष्य को सब प्रकार की न्यूनता से रहित और नियम का पालने-वाला बना सकता था; परन्तु ऐसा करने से मनुष्य निस्सन्देह केवल एक यन्त्र के समान काम करनेवाला होता और उसके द्वारा काम करानेवाली इच्छाशक्ति उसकी न होकर ईश्वर ही की होती। ईश्वर को यह इच्छा हुई कि मैं अपने तत्व में से ऐसे जीव उत्पन्न करूँ जो शक्ति और प्रताप में मेरे ही समान हों और जो सत्य का ग्रहण करने या न करने की उनमें स्वाधीनता रहते हुए भी निश्चय पूर्वक सत्य का ही ग्रहण करें न कि असत्य का; क्योंकि उनमें पूर्ण शक्ति के सिवाय पूर्ण ज्ञान और पूर्ण प्रेम दोनों भी रहेंगे।

मनुष्य को स्वतन्त्र और भूल करने के योग्य रखने के सिवाय और कोई तरीका विचार में नहीं आता जिससे उपरोक्त फल प्राप्त हो सकता। जो गलतियां मनुष्य करता है उनसे उसको आगे के लिये शिक्षा मिलती है और अनुभव प्राप्त होता है। यद्यपि इस प्रकार के विकासक्रम में बुराई और उसके कारण शोक और कष्ट का होना अटल है तिस पर भी मनुष्य के विकास में उनके द्वारा होनेवाले कार्य को अच्छी तरह से समझ लेने से चीन देश की कहावत कि "बुराई केवल भलाई की अंधेरी छाया है" ठीक मालूम होने लगती। यह बात तो बिलकुल ही सत्य है कि नीचे से देखने में बादल चाहे जितने काले दिखलाई देवें लेकिन वे स्वभाव से ही अनित्य हैं और उनकी ओट में शक्तिशाली सूर्य्य सदैव चमकता रहता

है जो अन्त में उन बादलों को छिन्न भिन्न कर देगा। पुरानी कहावत है कि सभी पदार्थ मिलकर भलाई के लिये ही कार्य्य किया करते हैं चाहे वे कितने भी बुरे क्यों न दिखाई देवें। यह कहावत ऊपर की कही हुई बात पर से ठीक मालुम होती है।

जिन लोगों ने कुछ भी वास्तविक उन्नति की है उनको इस बात का दृढ़ निश्चय होगया है कि सभी घटनाओं का परिणाम भला ही होता है। यद्यपि वे यह सिद्धांत उन लोगों को, जिनकी उन्नति नहीं हुई है, सबूत करके नहीं बतला सकते; तो भी निदान उसका समर्थन तो दृढ़ता पूर्वक कर सकते हैं। जो लोग ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं उनके लिये समर्थन भी अवश्य लाभकारी होता है।

हम कह सकते हैं कि दूसरा प्रश्न अर्थात् हम ईश्वर के अंश होने पर भी ऐसी हीन दशा को क्यों पहुंचे, यथार्थ नहीं है। इस विषय में लोग मनमानी कल्पना कर लेते हैं। ऐसा कहना कि हम लोग पापयुक्त और नीची दशा में भेजे गये हैं, असत्य है। यथार्थ में हम लोग तो बिलकुल ही भेजे नहीं गये हैं। जो कार्य्य वास्तव में होता है वह तो इससे बिलकुल ही भिन्न है। ईश्वर अपने बल प्रवाह को व्यक्त करता है। यह बल प्रवाह उसका या उसके आच्छादन का या कोषका अंश कहा जा सकता है। इस प्रवाह में शक्यता भाव से अर्थात् अप्रगट रूप से परन्तु प्रगट हो सकने की सभांवना युक्त, असंख्य जीव रहते हैं। प्रत्येक जीव उसका पूर्ण विकास

होने पर स्वयं ईश्वर रूप हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के विकास के लिये यह आवश्यक है कि जीव का अविर्भाव कई दर्जे की प्रकृति में हो और उसका व्यक्तित्व बहुत धीरे धीरे और क्रम क्रम से बने और तब उसके कुछ गुप्त गुण प्रगट हों। यही विकास क्रिया है और संसार के सभी बड़े बड़े नियम ऐसे बने हैं कि उनसे इस कार्य में सहायता मिले। आरम्भ की अवस्थाओं में जीव का आविर्भाव बिलकुल इन्हीं नियमों के आश्रित रहता है क्योंकि अभी तक उसमें व्यक्तित्व (individuality) या पृथक् आत्मा नहीं होती।

परन्तु एक अवस्था ऐसी आती है कि जिसमें व्यक्तित्व (अहंभाव) प्राप्त हो चुकता है और इच्छाशक्ति का विकास होने लगता है। ईश्वर का कार्य्यक्रम इस प्रकार से है कि मनुष्य को इस उदय होती हुई इच्छा को उपयोग में लाने की कुछ स्वतन्त्रता रहे। शुरू शुरू में यह स्वतन्त्रता बहुत थोड़ी रहती है। यद्यपि पूर्व कल्प के सिद्ध प्रायः सदैव उसके पास रहते हैं और ठीक मार्ग बतलाते हैं; तो भी यह स्वाभाविक है कि मनुष्ययोनि में हाल ही में आया हुआ जीव उस इच्छा शक्ति का जितनी बार सदुपयोग करता है प्रायः उतनी ही बार दुरुपयोग भी करता है। जब वह अपनी इच्छा शक्ति का अनुचित उपयोग करता है (अर्थात् विकास के प्रवाह के विरुद्ध उपयोग करता है) तब सृष्टि के अपने आप कार्य्य करनेवाले नियमों के अनुसार उसको दुःख मिलता है। जब इस प्रारंभिक जीव को बारबार अनुचित कार्य्य करने से

बारबार दुःख मिलता है तब इस प्रकार के बारबार के अनुभव से अन्त में वह यह सीख लेता है कि बुद्धिमान् लोग जो शिक्षा देते हैं उसको माननी चाहिये, और जब यह बात उसके स्वभावगत हो जाती है तो उसकी कार्य्य करने की स्वतन्त्रता का विस्तार और बढ़ जाता है।

इस नये क्षेत्र में भी वह कई बातें उचित और कई अनुचित करेगा। इसका परिणाम भी पूर्ववत् हुआ करता है और उसमें जब जब मनुष्य भूल करता है तब तब दुःख उठाता है। इस संसार में जितनी दुष्टता और जितना नीचपन है वह सब स्वतन्त्र इच्छा का दुरुपयोग करने का फल है, जो कि लोग अकसर किया करते हैं। क्योंकि वे अभी उसका सदुपयोग करना सीख ही रहे हैं। जब सब लोग उसको सीख जांयगे तब इस संसार में बुराइयां भी न रहेंगी। अब इससे सिद्ध होता है कि इस संसार में जितनी कुछ बुराई है वह सब उसमें रहनेवाले लोगों के दुष्कर्मों का फल है और स्वभाव से अनित्य है। हमको वह बुराई चाहे जैसी भयंकर और दृढ़ क्यों न दिखाई देवे, परन्तु उसका चिरस्थायी होना असंभव है। क्योंकि ऐसा नियम है कि कार्य के कारण के अभाव हो जाने से कार्य का भी अभाव हो जाता है। जब तक बुराई संसार में कायम है तब तक हमें उसकी स्थिति के लिये संसार के कारण रूप ईश्वर को दोष न देना चहिये; क्योंकि दोष तो हमारा ही है कि हम उस ईश्वर के कार्य क्रम के विरुद्ध चलते हैं।

हम बहुधा लोगों को नीचे दर्जे का मार्ग छोड़ कर ऊंचा मार्ग ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। परन्तु हमारे विचार से सच बात तो यह है कि मनुष्य सदैव उतना ही ऊंचा मार्ग ग्रहण करता है जितने की उसे पूरी खातिरी होती है। कठिनाई सिर्फ इस बात की है कि बहुतों को आत्मज्ञान की कई बातें अस्पष्ट और असत्य मालूम होती हैं। इसलिये, यद्यपि वे उन बातों पर अपना विश्वास होना प्रगट करते हैं और ऐसा समझते भी हैं कि हमारा उनपर विश्वास है, तथापि जब उनके अनुसार कार्य्य करने का प्रसङ्ग आता है तब उनको वह ज्ञान ऐसा कुछ अस्पष्ट और अनिश्चितसा मालूम होता है कि वे उसके भरोसे अपनी जान जोखिम में नहीं डाल सकते।

इसका एक उदाहरण यह है कि बहुत से लोग, जो अपने को धार्मिक समझते हैं, अधिकार का पद और द्रव्य प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। यदि ऐसे लोग जड़वादी होते और ऊंचे दर्जे के सिद्धान्तों में अपना विश्वास प्रगट न करते तो उनका द्रव्य आदि का प्रेम न्यायसंगत कहा जा सकता। परन्तु जब हम धार्मिक मनुष्य को संसारी पदार्थों में आसक्त देखते हैं तब स्पष्ट है कि कुछ न कुछ गड़बड़ या न्याय विरुद्ध है। सच बात तो यह है कि ऐसे मनुष्य की यथार्थ श्रद्धा धर्म में नहीं है और उसके सिद्धान्तों में उसका पूरा पूरा विश्वास भी नहीं है। यदि ऐसा न होता तो वह इतर पदार्थ पाने की इच्छा भी न करता। मनुष्य उसी चीज की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है जिसको वह अच्छी समझता

है। उसको इस बात का पक्का भरोसा है कि इस संसार में द्रव्य और अधिकार की बहुत आवश्यकता है। वह जानता है कि मुझे इन चीजों की जरूरत है और यह भी मानता है कि उनके मिलने से मुझे सुख होगा। इसीलिये वह उनके उपार्जन के लिये अपना सब समय और शक्ति खर्च करता है। हमको इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का प्रयत्न करने में वह निदान अपनी इच्छाशक्ति और उद्योग-शीलता को बढ़ाता है।

इस प्रकार के मनुष्य का अभी रुपये पैसे की कीमत में जैसा दृढ़ निश्चय है यदि वैसा ही दृढ़ निश्चय उसका किसी उपाय से ऊँचे पदार्थों की कीमत में हो जावे तो वह तुरन्त उन ऊँचे पदार्थों की इच्छा करने लगेगा और उनकी प्राप्ति के लिये उद्योग करेगा। जितनी दृढ़ता से अभी वह असत् के पीछे पड़ा हुआ है उतनी ही दृढ़ता से सत्य की खोज में रहने लगेगा। ब्रह्मविद्या सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने से मनुष्य को यह लाभ होता है कि उसको सार और असार वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है जिससे वह असार वस्तुओं को छोड़कर सार को ग्रहण करता है। जो मनुष्य ब्रह्मविद्या को अच्छी तरह से समझता है उसे मालूम है कि मेरे इस संसार में रहने का अवश्य कोई विशेष उद्देश्य है और उस उद्देश्य को साधना ही मुख्य कर्तव्य है। उसे अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि ये ये कार्य करने के योग्य हैं और ये ये उद्देश्य लक्ष्य में रखने के योग्य हैं; और उनकी प्राप्ति के लिये उसके मन में उतनी

ही लालच हो जाती है जितनी कि पहिले द्रव्य या उच्च पद के लिये थी।

परन्तु इसके लिये थोड़ीसी अभिरुचि होना या कुछ किताबें पढ़ लेना बस नहीं है। मनुष्य को उस पर यथार्थ विश्वास होना चाहिये—उसकी सत्यता पर पूरा और दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा दृढ़ निश्चय तभी हो सकता है जब कि मनुष्य स्वयं उसका थोड़ासा भी अनुभव प्राप्त कर लेवे। ऐसा किये बिना चाहे मनुष्य अपनी बुद्धि से विचार कर किसी सिद्धान्त की सत्यता को मान लेवे और यह भी समझ लेवे कि उसके सिवाय दूसरी बात होना सम्भव नहीं, तो भी हमारी पहुँच के बाहर के पदार्थों के विषय में इस प्रकार केवल तर्क द्वारा ही निश्चय कर लेने से बहुधा लोगों को इतना बल नहीं मिल सकता कि जिसमें वे उस सिद्धान्त के अनुसार चलसकें। इसलिये बहुत से लोगों को इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि वे उसका थोड़ासा भी अंश नमूने की तरह निश्चित रूप से देख लेवें और जान लेवें।

२५ या २७ वर्ष हुए कि जब हम लोग ब्रह्मविद्या की शिक्षा पाते थे। उस समय आज कल के थियासोफ़ी पढ़नेवालों के समान हम लोगों के मन में भी ऐसी भावना होती थी कि यदि हम लोग स्वयं इन बातों की जांच कर सकते तो कैसी अच्छी बात होती। इसलिये एक दिन हमने श्रीमती मैडेम ब्लेवेट्स्की से पूछा कि क्या हमलोग आपकी कही हुई बातों मेंसे किसी किसी की जांच कर सकते हैं। तो उन्होंने तुरन्त कहा कि हां

कर सकते हो। यदि तुम लोग आवश्यक मानसिक शक्तियों को विकसित करने का कष्ट उठाओगे तो निस्सन्देह थियासोफ़ी की बहुतसी बातों की सत्यता का अनुभव प्राप्त करोगे। उन्होंने हम लोगों को स्पष्ट कह दिया था कि मानसिक शक्तियों के विकसित करने के लिये बहुत समय और कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। पहिले से कोई नहीं कह सकता कि उसको पूरा करने में किस मनुष्य को कितना समय लगेगा। परन्तु इसके साथ साथ उन्होंने यह दिलासा भी दी थी कि इस विकास क्रिया की सफलता में ज़रा भी सन्देह नहीं; उद्योग करने पर उसकी प्राप्ति न होवे यह बात असंभव है। बहुतों को इस जन्म में नहीं तो किसी अगले जन्म में अवश्य होगी।

उनका यह कथन एक तरह से तो उत्साह बढ़ानेवाला था; परन्तु दूसरी तरह से इससे कुछ कुछ कम हिम्मती भी होती थी। तो भी हममें से कुछ लोग उस पर श्रद्धा रख कर आवश्यक नियमों को पालने व नियत कार्य करने का तन मन से प्रयत्न करने लगे। किसी को कम और किसी को ज्यादा, पर सफलता सभी को हुई। जो लोग लगातार प्रयत्न करते चले गये उनमें से हम समझते हैं कोई एक भी ऐसा न था जिसको कुछ न कुछ फल प्राप्त न हुआ हो। निदान इतना अनुभव तो सब को होगया कि जो शिक्षा उनको दी गई थी वह सत्य थी और यदि किसी की उन्नति आशा से कम हुई, तो दोष उसी मनुष्य का था न कि शिक्षा देनेवालों का।

महात्माओं ने जो जो बातें हमारे कोष, हमारी भावी

योग्यता, भुवर्लोक जो हमारे आस पास लगा हुआ है, आदि के विषय में कही थीं उनमें से कई की सत्यता की जांच हम लोगों में से कोई कोई स्वतः कर सके।

शुरू शुरू में हम लोग इस प्रकार की जांच बहुत कम कर सकते थे। लेकिन आगे कई दिन के लगातार और अधिक कठिन परिश्रम से हमारे मनोमय कोष की शक्तियां जाग्रत हुईं और तब हम लोग स्वर्ग के विषय में जो कुछ लिखा गया है उसको यथार्थ रीति से पहिले पहिल समझ सके। पहिले तो हम इन सब बातों को कुछ की कुछ समझ बैठे थे; क्योंकि उस समय हम लोगों की जितनी शक्तियां जाग्रत हुई थीं वे इस विषय को समझ सकने के लिये बस न थीं। और भी अधिक परिश्रम करने पर हम लोगों को कारण शरीर की शक्तियां प्राप्त हो गईं और तभी हमको संसार का माया रहित आर सच्चा रूप बहुत कुछ दिखाई देने लगा।

तब हम लोग आकाशिक लेखों पर से भूतकाल का हाल जान सके और उनके द्वारा हमको निश्चित रूप से मालूम हो गया कि किस प्रकार ईश्वर की सङ्कल्पित युक्ति का धीरे धीरे विकास हो रहा है और कार्य कारण के बड़े नियमों के आधार पर एक के बाद एक कई जन्मों के द्वारा वह सङ्कल्प पूरा व्यक्त होता जाता है। तब हम लोगों को स्पष्ट मालूम हो गया कि निस्सन्देह हम भी उस बड़ी शक्ति के अंश हैं और उस पर से यह बात सिद्ध हुई कि हमको उसके कार्य में शामिल होना चाहिये और उसके पूरे होने में समझ के साथ सहायता देना

हमको अपना धर्म, अपना लाभ और अपना सौभाग्य समझना चाहिये। तब हमें विकासक्रम और मनुष्य जाति के दिव्य भविष्य के विषय में कुछ भी सन्देह न रहा। क्योंकि हमको साफ़ मालूम हो गया कि हम नीचे की योनियों में होते हुए मनुष्य योनि में आये हैं। तब हमको हमारे नीचे के और हमारे ऊपर के कई दर्जे दिखाई देने लगे। मनुष्य जाति के ये दर्जे निसेनी की सीढ़ियों के समान एक के ऊपर एक हैं और हमारे ऊपर और नीचे चले गये हैं। उस निसेनी की हर एक सीढ़ी पर जीव दिख पड़े जो कि निस्सन्देह ऊपर चढ़ने में लगे हुए हैं।

महात्मा लोग उस निसेनी के ऊपर के डंडे पर खड़े हुए हैं। उनका कहना है कि हम लोग भी तुम्हारे समान मनुष्य हैं और जिस स्थान पर अभी तुम लोग हो उसको हम लोग पार कर चुके हैं। हमारे और उन महात्माओं के बीच में सिलसिला लगा हुआ है क्योंकि हर एक सीढ़ी पर जीव हैं। हमने स्वयं अपने से ऊपर के कुछ जीवों को एक सीढ़ी पर से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते देखा। उच्च लोकों के विचित्र प्रकाश से पहिले जो चकाचौंधी लगती थी वह आदत हो जाने से जब कुछ कम हुई तब हमको महात्मा लोगों के अत्यन्त ऊंचे स्थान के ऊपर और भी ऊंचे ऊंचे स्थान दिखाई देने लगे। महात्माओं के ऊपर मनु, मैत्रेय, बुद्ध, लिपिक अर्थात् कर्माधिकारी देवता, बड़े बड़े देवता, ध्यान-चौहान, और दूसरे ऐसे बहुत बड़े जीव दिखपड़े हैं जिनके विषय में हम केवल इतना ही जान सकते हैं

कि वे हैं और इतने ऊँचे स्थान पर होते हुए भी उसी बड़ी माला के गुरिये हैं।

भूतकाल का सारा हाल हमको दिखाई पड़ता है। उन्नति-मार्ग पर के ठहरने के स्थान और उससे फूटे हुए आसपास के छोटे छोटे रास्ते ये सब हमको दिख पड़ते हैं। इसलिये हमारा इस बात का विश्वास करना कि जहां आज ये बड़े बड़े ऋषि और देवता हैं वहां एक दिन हम भी पहुंचेंगे न्याय-सङ्गत है। यह जानने और समझ लेने से कि हमारा होनहार विकास अमिट है, हमें इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि भावी विकास को मेटने का प्रयत्न करना निरर्थक है। उन्नति करना हमारे लिये मुकर्रर नियम है। उन्नति ही में हमें सुख मिलेगा और उन्नति ही में हमारी कुशलता है। जितनी उन्नति हमको इस ग्रहमाला में करनी है उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि अभी हम में से बहुत से लोग "कुशल" या "सुरक्षित" नहीं कहे जा सकते। अर्थात् वे अभी ऐसे पद को नहीं पहुँचे हैं जहां पर पीछे छूट जाना सम्भव न हो। इस अभीष्ट अवस्था को हम तभी पहुँचेंगे जब हम "स्रोतापत्ति" या "स्रोतापन्न" नाम की पहिली बड़ी दीक्षा प्राप्त करके युग युग में रहनेवाले श्वेतसङ्घ में भरती होंगे। स्रोतापन्न उस मनुष्य को कहते हैं जो स्रोत अर्थात् प्रवाह में पैर रखता है।

इस स्थिति पर पहुँचना बहुत बड़ी बात है और मनुष्य के विकास भर में वह बहुत ही नाज़ुक प्रसङ्ग (निपुणबिन्दु) है। सारे विकास में ३ प्रसङ्ग सब से मुख्य हैं; इनमें से व्यक्तित्व

अहंभाव) प्राप्त करना, कारण शरीर का पाना और इस तरह निश्चित और प्रगट रूप से पृथक् जीव बनना यह पहिला प्रसङ्ग है। व्यक्तित्व (अहंभाव) प्राप्त करना ही पशु योनि के विकास का मुख्य उद्देश्य था, उसकी प्राप्ति से एक बड़ा अभीष्ट सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि दृढ़ व्यक्तिगत केन्द्र कायम हो और अन्त में उसके द्वारा ईश्वर के बल का प्रवाह हो सके। जब पहिले पहिल यह केन्द्र बनता है तब जीव बाल अवस्था में, कमजोर और अनिश्चित रहता है; उसको दृढ़ और स्पष्ट बनाने के लिये उसके आसपास ऐसी स्वार्थपरता रूपी बाड़ी की आवश्यकता होती है जैसी कि जङ्गली जाति के लोगों में देखी जाती है। स्वार्थपरता की मजबूत दीवाल कई जन्मों तक कायम रखनी पड़ती है जिसमें उसके भीतर भीतर केन्द्र अधिक निश्चित होता जावे।

इस स्वार्थपरता को एक प्रकार का मचान समझना चाहिये। मकान बनाते समय उसकी बहुत आवश्यकता रहती है, परन्तु जब मकान बन चुकता है तब उसको तुरन्त निकाल देते हैं जिसमें वह मकान अपने अंतिम अभिप्राय के पूरे होने में सहायक होसके अर्थात् उसमें मनुष्य रह सकें। मचान देखने में बुरा मालूम होता है और अगर मकान बन चुकने पर न निकाल दिया जावे तो यह मकान मनुष्य के रहने लायक न होगा। हालांकि उस मचान की सहायता के बिना मकान बन ही नहीं सकता था। विकास में स्वार्थ का कार्य ठीक इसी प्रकार का होता है। केन्द्र कायम करने का यही उद्देश्य

है कि उसके द्वारा इस संसार में ईश्वर के बल का प्रकाश होवे, परन्तु यदि स्वार्थ बना रहा तो यह कार्य होना असंभव होगा, हालांकि स्वार्थ के बिना दृढ़ केन्द्र बन ही नहीं सकता था। इस पर से हमको मालूम होता है कि विकास में स्वार्थपरता सरीखे अप्रिय गुण का भी उपयोग होता है। हमारे लिये उसका काम हो चुका है और हमें उसको अलग कर देना था। साधारण मनुष्य से, उसके स्वार्थ के कारण, अप्रसन्न होना निरर्थक है क्योंकि उसका यही अर्थ है कि असभ्य-अवस्थामें जो एक आवश्यक गुण था वह सभ्य अवस्था में भी अब बना है। वास्तव में स्वार्थी मनुष्य इस समय की उन्नति में पीछे रह गया हुआ और ऐतिहासिक समय के पहिले की असभ्यता का बचा हुआ नमूना है। वह इतना पीछे पड़ गया है कि अब उसके बराबरी पर आने की कोई आशा नहीं की जा सकती।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार का मनुष्य किस प्रकार अपने को निःस्वार्थी बना सकता है जिसमें कि विकास की आगे बढ़ी हुई लहर के बराबर आजावे। इस उद्देश्य के साधन के निमित्त कई और जुदे जुदे उपाय हैं; परन्तु अगर मूल देखा जाय तो सब का एक है। आवश्यक बात केवल इतनी ही है कि मनुष्य सब जीवों के एकत्व को समझ लेवे। इस बात का संपादन वह धीरे धीरे अपनेपन के अर्थात् अपनी ममता के क्षेत्र का विस्तार कर २ के करता है। काम करते समय अपने शरीर ही के स्वार्थ का विचार न करके वह अपने कुटुम्ब भर के स्वार्थ का विचार करने लगता है और इस तरह वह धीरे धीरे

निःस्वार्थी होने लगता है। इसके बाद वह अपने जाति या देशभर के लोगों के स्वार्थ का विचार करने लगता है, और इस तरह विशेष निःस्वार्थी होना सीखता है; यद्यपि तब भी वह बिलकुल स्वार्थी रहता है। इतना ही नहीं बल्कि वह अपनी जाति के बाहिर के लोगों को अपना स्वाभाविक शत्रु समझता है और उनको लूट लेने की इच्छा रखता है। इसके बाद एक समय वह इतना उदारचित्त हो जाता है कि निदान किसी किसी बातों में वह अपने देश भर के लोगों के हित पर दृष्टि रखने लगता है।

इस समय अधिकांश मनुष्य इसी अवस्था के किसी विभाग में हैं। प्रायः सब ही छोटी छोटी बातों में मामूली आदमी अन्य कुटुम्बों के लोगों के हित के विरुद्ध अपने कुटुम्ब का हित साधना चाहता है। परन्तु कुछ बड़ी बड़ी बातों में वह उन दूसरे कुटुम्बों के लोगों के हित में अपना हित समझता है और इस प्रकार उसमें उन बातों के सम्बन्ध से देशभक्ति और जातीयता का विकास होता है। परन्तु उन बातों में भी वह भिन्न भाषा बोलनेवाले अथवा दूसरे देश में पैदा हुए लोगों के सम्बन्ध में बिलकुल स्वार्थी रहता है। भविष्यकाल में किसी समय औसत दर्जे का मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य जाति को अपना अङ्ग समझने लगेगा और तभी हम कह सकेंगे कि वह धीरे धीरे निःस्वार्थी हो गया।

जब वह इस प्रकार दूसरों के प्रति उदारता सीखता जाता है तो साथ ही साथ उसको अपने विषय में भी कुछ कुछ

ज्ञान होता जाता है। पहिले पहिल उसको इस बात का ज्ञान होता है कि मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ और न मेरे मनोविकार ही मैं हूँ; इतना ही नहीं वरन् वह यह भी जान लेता है कि मेरा मन भी मैं नहीं हूँ अर्थात् मैं इन सब से पृथक् हूँ। अन्त में उसको इस बात का बोध हो जाता कि मैं जीवात्मा हूँ और आगे चल कर उसको निश्चय हो जाता है कि जीवात्मा की पृथकता वास्तविक नहीं है। केवल देखने में जुदाई मालूम होती है परन्तु यथार्थ में सर्वोत्कृष्ट ऐक्यता ही सत्य है।

इस प्रकार मनुष्य को एक एक करके ७७७ जन्म लेने पड़ते हैं। इस सब काल में उसकी उन्नति बहुत परिश्रम से और धीरे धीरे होती है और उसके मन में पीछे छूट जाने का दुखदाई संदेह बना रहता है। परन्तु कठिन परिश्रम करते करते अन्त में जब वह स्रोत में पैर रखता है * तब यह शंका दूर हो जाती है और वह मनुष्य सदैव के लिये पीछे छूट जाने के संदेह से मुक्त हो जाता है। मनुष्य के विकास में यह दूसरा और पहिले से अर्थात् मनुष्य योनि में पहिली बार आने के प्रसंग से, अधिक महत्व का प्रसंग है। परन्तु यहां तक पहुंचने के पहिले मनुष्य को समझ बूझ कर सृष्टि के नियमों में सहायता देना सीख लेना पड़ता है और अपने विकास के लिये निश्चितरूप से स्वयं उद्योग करना पड़ता है। उसे सब जीवों की ऐक्यता का ज्ञान हो जाने से उसकी स्वार्थता ही नष्ट नहीं होती, बरन् उसके मन में दूसरों की भलाई करने की इच्छा भी

नोट—*यह स्रोतापत्ति पद की अवस्था है। अनु०

उत्पन्न होती है। इससे उसको अध्ययन करने और अपनी न्यूनता दूर करने के लिये उत्तेजना भी मिलती है। यही उसके कार्यों का कारण रूप होता है और इसी से वह अपने मन के भावों और विचारों की जांच व जिन बातों से उसको काम पड़ता है उन सब की उपयोगिता की जांच कर सकता है।

अब प्रश्न यह है कि उसे अपने को पूर्ण बनाने के कार्य का प्रारम्भ किस प्रकार करना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि पहिले उसको अपने में से सब अनिष्ट गुण एक एक करके दूर कर देना चाहिये और फिर अच्छे अच्छे गुण ढूंढ़ कर अपने में दृढ़ करना चाहिये। उसको खास करके दूसरों की सहायता करने का अभ्यास करना चाहिये। यदि यह नया काम वह शुरू में खूबसूरती के साथ न भी कर सके तो चिन्ता नहीं। चरित्रगठन अर्थात् अपने को सदाचारी बनाना उसके लिये बहुत कठिनाई का तथा विलम्ब का काम है। और वह उसको बहुत धीरे धीरे संपादन करता है। क्योंकि इस कार्य में उसको बहुत सी बाधाएं आन पड़ती हैं जिनको उसी ने भूतकाल में बना रक्खी हैं। कई बरसों तक वह अनिष्ट इच्छाओं के वशीभूत रहा है और इसी से वे बलवती हो गई हैं।

दृष्टांत रूप से चिड़चिड़ेपन के दुर्गुण को लेओ। भूतकाल में उसको क्रोध के वश हो जाने की आदत रही है। ज्यों ज्यों मनुष्य क्रोध के वश होता जाता है त्यों त्यों आगे को क्रोध का रोकना उसके लिये कठिन होता जाता है। उसको क्रोध करने की दृढ़ आदत पड़ जाती है और बार बार उस आदत को बल

मिलने से उसमें बहुतसा बल संचित हो जाता है। यह बल आत्मा के अन्तर्गत गुण के रूप में इकट्ठा नहीं होता, परन्तु भुवर्लोक के अक्षय परमाणुओं में जमा होता है और जब वह क्रोध को बुरा समझ कर उसको रोकने का प्रयत्न करता है तब उसको उसी बल का सामना करना पड़ता है जो उसने इस दुर्गुण को अपने गत अनेक जन्मों में दे रक्खा है। फिर उस दुर्गुण को जीतने में कठिनाई मालूम होना एक स्वाभाविक बात है। कई बार उसका प्रयत्न निष्फल होता है और कई बार उसको हताश होना पड़ता है। परन्तु उसको यह एक मुख्य बात याद रखनी चाहिये कि उसका प्रयत्न चाहे जितनी बार विफल हो पर यदि वह लगातार परिश्रम करता जायगा तो अन्त में उसको निस्सन्देह सफलता प्राप्त होगी।

किसी दुर्गुण को उसने चाहे जितना दृढ़ क्यों न कर रक्खा हो; परन्तु उस दृढ़ता की एक हद अवश्य होती है और जैसे जैसे वह उस दुर्गुण को जीतने का प्रयत्न करता है तैसे तैसे उसकी दृढ़ता कम होती जाती है। मनुष्य के पक्ष में अपरिमित बल है और यदि केवल उसकी इच्छाशक्ति प्रबल हो तो वह उस बलको आवश्यकता के अनुसार कई जन्मों में सदैव के लिये ताज़ा कर सकता है और उसके द्वारा वह उस दुर्गुण का मुकाबला कर सकता है। इस प्रकार के प्रयत्नों में उसको स्वयं ईश्वर के अनन्त बल से भी सहायता मिलती है क्योंकि उस मनुष्य का विकास भी तो उसी दैवी इच्छा के अनुसार है। जब तक मनुष्य को ऐक्यता का ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक

सदाचारी बनने के कठिन और अरोचक कार्य करने के लिये उसको कोई यथोचित् उत्तेजना नहीं मिलती। परन्तु जब वह सदाचारी बनने की आवश्यकता समझ लेता है तो हजार बार अकृतार्थ होने पर भी उसका प्रयत्न उतना ही सबल और उद्देश्य-पूर्ण बना रहता है जितना कि प्रारम्भ में था। जो मनुष्य ईश्वर की कार्यप्रणाली को समझता है वह चाहे जितनी बार अकृतार्थ क्यों न हो कभी हिम्मत नहीं हारता। क्योंकि वह जानता है कि कैसा भी कठिन युद्ध क्यों न हो, दैवी बल मेरे पक्ष में है। इसलिये अन्त में मैं अवश्य विजयी होऊँगा।

इस उद्देश्य को जन्म जन्मांतर तक निश्चयपूर्वक स्मरण रखने के लिये उसे अपनी चेतना आत्मा तक ले जाना चाहिये। परन्तु जब तक वह इस कार्य के करने में असमर्थ है तब तक वह इस अभिप्राय को अपने अविनाशी परमाणुओं पर जमा देवेगा जिसमें वह अभिप्राय उन परमाणुओं के साथ साथ जन्म प्रति जन्म बना रहे। यदि उस मनुष्य की चेतनाशक्ति आत्मा तक पहुँच सकती है तो दूसरा जन्म लेने पर उसको अपने उद्देश्य का ज्ञान स्वभावगत हो जायगा। परन्तु यदि वह केवल अपने अक्षय परमाणुओं पर ही असर डाल सकता है तो यह ज्ञान उसमें जन्म से ही पूंजी के समान न रहेगा। पर जब वह इस जन्म में उसके सामने किसी भी रूप से उपस्थित होगा तो वह तुरन्त ही उसकी सत्यता को पहिचान कर उसका ग्रहण कर लेगा और उसके अनुसार कार्य करेगा। सद्गुण के इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास और ज्ञान की लगातार उन्नति

के कारण जिज्ञासु परीक्ष्यमाण पथ के दरवाज़े तक पहुँच जायगा और उसमें प्रवेश करके वह बड़ी दीक्षा प्राप्त कर लेगा जिसका वर्णन पहिले हो चुका है।

उस दीक्षा के पश्चात् महात्मा पद पाने की तीसरी बात याने प्रवाह के दूसरे किनारे की प्राप्ति अवश्य होती है। इस पद को पहुँचने पर वह मानवीय विकास को त्यागकर और ऊंची अवस्था को प्राप्त होता है। हमको बताया गया है कि स्रोत में पैर रखने के पश्चात् अर्थात् प्रथम दीक्षा के बाद चौथी अर्थात् अर्हत् की अवस्था तक पहुंचने के लिये औसत में सात जन्म लगते हैं। वह अवस्था अतिउच्च, आदरणीय और सर्वगुण-सम्पन्न होती है। ऊपर जो सात जन्म की अवधि बतलाई गई है वह बहुधा कम न होकर अधिक हो जाती है। मर कर फिर जन्म लेने के पहिले जीव स्वर्गलोक की अवस्था को पहुंचता है। परन्तु ऊपर कहे हुए दीक्षित लोग साधारणतः स्वर्गलोक के सुख का उपभोग किये बिना ही तुरन्त भूलोक में जन्म ले लेते हैं। यह बात केवल इसी अवस्था को पहुंचे हुए लोग कर सकते हैं।

मनुजी की आधीनता में छठवीं मूलजाति के विकास का काम करने के लिये महात्मा लोग हमको तैयार कर रहे हैं। जिन लोगों को इस महत्व पूर्ण कार्य में भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त होगा उन लोगों को भी स्वर्गलोक तक गये बिना ही लगा-तार कई जन्म लेने की आवश्यकता होगी। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार स्वर्ग का त्याग केवल वही मनुष्य कर सकता है

जो एक बार उस लोक में सचेत अवस्था में रह चुका है। इस के सिवाय सत्कर्म के फल रूपी स्वर्ग की प्राप्ति का त्याग करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है; इसको वही कर सकता है जो इतनी उन्नति कर चुका हो कि वह कुछ समय के लिये विकास का वह अंश जो बहुधा स्वर्गलोक में प्राप्त होता है बिना हानि के छोड़ सके।

अर्हत् पद प्राप्त करने पर पहिली दीक्षा से लेकर महात्मा (अशेख) होने तक के पूरे मार्ग में से आधा समाप्त हो चुकता है। क्योंकि तब वह निर्वाण की प्राप्ति में बाधक होनेवाली दस बड़ी बेड़ियों में से पाँच को तोड़ चुकता है। अब उसको शेष पांच बेड़ियाँ तोड़ने का काम बाकी रह जाता है, और उसके लिये भी औसत में सात जन्म मुकर्रर हैं। परन्तु स्मरण रहे कि यह औसत कोई नियम के रूप से नहीं है क्योंकि कई लोगों को सात से अधिक जन्म लगते हैं और जो लोग अधिक दृढ़चित्त और परिश्रमी होते हैं वे उससे बहुत थोड़े समय में सब दीक्षाएं प्राप्त कर लेते हैं। हमारे जानने में एक ऐसा प्रसङ्ग भी हुआ है जब कि एक मनुष्य ने छुटपन से ही अभ्यास और कठिन परिश्रम करके एक ही जन्म में चारों बड़ी दीक्षाएं प्राप्त कर लीं। परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है। दस हजार उम्मेदवारों में से एक भी इतना नहीं कर सकता।

स्मरण रहे कि अर्हत्पद को पहुँचने पर दीक्षित को अपने आनन्दमय कोष (बुद्धि शरीर) को पूर्ण रीति से उपयोग में लाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह भी स्मरण रहे कि

जब मनुष्य आनन्दमय कोष में पहुँच जाता है तो उसका विज्ञानमय कोष (कारण शरीर) लय को प्राप्त हो जाता है और वह उसको फिर से बनाकर धारण करने के लिये बाध्य नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि महात्मा (अशेख) पद को पहुँचने के लिये जो शेष सात जन्म मनुष्य को लेने पड़ते हैं उनमें उसको भूलोक में आने की आवश्यकता बिलकुल नहीं होती। इसलिये ऐसे लोगों की हालत में पुनर्जन्म का वैसा अर्थ नहीं होता जैसा कि साधारण लोगों की दशा में होता है। तथापि इस अवस्था के अधिकांश लोग भूलोक में जन्म लिया करते हैं क्योंकि उनको इस भूलोक में सिद्धसंघ के लिये कार्य करने पड़ते हैं।

जिज्ञासु के ये चौदह जन्म पवित्रता के मार्ग के भिन्न भिन्न दर्जे पार करने व "दैवी सहायक" नाम की पुस्तक के अंत के अध्यायों में सविस्तर कहे हुए गुणों के उपार्जन करने में व्यतीत होते हैं। जो मनुष्य हमारे किसी एक महात्मा का चेला हो जाता है वह कभी अपना मोक्ष साधने के लिये कार्य नहीं करता, जिससे वह कर्म का त्याग कर व कामनाओं को जीत कर पुनर्जन्म से रहित हो जावे; बरन् स्वार्थ त्याग का मार्ग ग्रहण करता है। वह ईश्वर के कार्य को समझकर उसमें प्रवृत्त होता है और अपना जीवन केवल मनुष्य जाति की उन्नति करने में बिताता है।

इस मार्ग को बड़े दुःख का मार्ग कहते हैं क्योंकि उसमें सदैव आत्मत्याग करना पड़ता है परन्तु यथार्थ में उसको

दुःख का मार्ग कहना सर्वथा ठीक नहीं। यह सत्य है कि उसमें कष्ट उठाना पड़ता है; परन्तु वह कष्ट नीचे मन को उठाना पड़ता है न कि ऊंचे और शुद्ध मन को। और यदि मनुष्य लापरवाही या सुस्ती के कारण यह कष्ट न उठाना चाहे और जो काम वह कर सकता हो उसको बगैर किये छोड़ देवे तो उसको ऊंचे मन में भारी संताप भोगना पड़ेगा जिससे निश्चय पूर्वक और भी अधिक कष्ट होगा। जो अनिवार्य कष्ट इस मार्ग में हुआ करता है उसका कारण यह है कि चेला इस चौथी ही परिक्रमा में उतना काम कर लेना चाहता है जितना कि स्वाभाविक रीति से सुगमता पूर्वक सातवीं परिक्रमा में होता। उस समय हमारे सबही कोष बहुत अधिक विकसित हो जावेंगे और वह द्रव्य भी, जिससे वे बने हैं, बिलकुल ही भिन्न दशा में हो जावेगा क्योंकि तब स्थूल परमाणु के सातों सर्पाकार चक्र क्रियावान् हो जावेंगे। अभी केवल चारही क्रियावान् हैं। इसलिये जो काम लाखों बरस में पूर्ण विकास को पहुँचानेवाले लोग सुगमता पूर्वक कर सकेंगे वही काम हमारे वर्तमान् अविकसित कोषों से बलपूर्वक लेने से उन पर बहुत बोझ पड़ता है और उससे अवश्य ही कुछ कष्ट होता है।

आत्मा को तो कभी कोई कष्ट होता ही नहीं; परन्तु जब नीचे के कोष प्रौढ होने के पूर्व ही काम के योग्य बनाये जाते हैं तब उन कोषों को अवश्य कष्ट होता है। इसकी समानता केंकड़े और उसी प्रकार के इतर प्राणियों की शरीर वृद्धि से

भली भाँति हो सकती है। इनकी रक्षा के निमित्त इन प्राणियों की हड्डियां शरीर के बाहर होती हैं। हमारे शरीर की हड्डियां शरीर के भीतर ढांचे के रूप में होती हैं। केंकड़े की जाति के प्राणियों की रचना में एक बड़ी अड़चन यह उपस्थित होती है कि, जब प्राणी बढ़ता है तो उसको अपना ऊपरी कड़ा ढ़ांचा तोड़ डालना पड़ता है और दूसरा कड़ा ढांचा तैयार होने के लिये ठहरना पड़ता है, इस कार्य में उसको कष्ट ही नहीं वरन् असुभीता भी अवश्य होता होगा। इसी प्रकार हम अपनी उन्नति के कार्य में अपने आसपास विचाररूपी आच्छादन बना लेते हैं जिससे हमारी मानसिक अवस्था ठीक उन केंकड़े की जाति के प्राणियों के समान हो जाती है। थोड़े समय में हमारी मानसिक उन्नति इतनी हो जाती है कि हमारा विचाररूपी आच्छादन तंग होने लगता है। तब भी हम उसके अन्दर ही अन्दर जहां तक बन पड़ता है उन्नति करते रहते हैं और इस तरह कुछ समय तक काम चला जाता है। परन्तु आगे चल कर विशेष वृद्धि होना सदैव असम्भव हो जाता है और अन्त में हमको उस आच्छादन को तोड़ने का कष्ट उठाना ही पड़ता है। यह बात टल नहीं सकती। इसलिये कर्म पर और प्रकृति के विकार रहित नियमों पर कुढ़ना नहीं चाहिये। क्योंकि तुम्हारा आच्छादन पिछले जन्मों का तुम्हारा ही बनाया हुआ है और अब तुमहा को उसे तोड़ना चाहिये। परन्तु यदि तुम उसके तोड़ने की अड़चन नहां उठाना चाहते तो फिर तुम्हारे मन की उन्नति

न कर सकने का पछतावा आने पर और भी अधिक कष्ट होगा।

बहुत से लोग अदला बदली करने में, खासकर धर्म बदलने में, डरते हैं। इस प्रकार का भय केवल मन के दुराग्रह से ही नहीं वरन् सन्देह के कारण भी होता है। क्योंकि लोग सोचते हैं कि जमे हुए विश्वास के उठजाने पर सम्भव है कि मनको फिर कहीं स्थिरता का कोई साधन न मिले। बहुत से लोग अपने विश्वास का सतर्क समर्थन नहीं कर सकते और न उनके संबन्ध में जो शंकाएँ उठे बगैर नहीं रह सकतीं, उनका उत्तर ही दे सकते हैं; तो भी वे उस विश्वास को छोड़ने में डरते हैं। कभी न कभी तो उन्हें ऐसे मिथ्याविश्वास छोड़ने पड़ेंगे और यह निश्चय है कि धर्म को उदार बनाने और नये विचार ग्रहण करने में उन्हें कष्ट उठाना पड़ेगा। यह बात सच है कि यदि हम अपना केंकड़े सरीखा ऊपर का ढांचा कभी न तोड़ें तो हमको कुछ भी कष्ट न होगा, परन्तु उस हालत में हमारी उन्नति भी तो न होगी।

इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि चेले का जीवन आनन्दमय तो होता है; परन्तु उसमें आराम नहीं मिलता। चेले को बहुत कठिन काम करना पड़ता है और उसमें उसको बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है। जितने विकास के लिये हज़ारों वर्ष लगते हैं और जितने के लिये सृष्टि क्रम के अनुसार साधारण रीति से साढ़े तीन परिक्रमा काल की आवश्यकता होती है, उतना विकास परिश्रम द्वारा कुछ थोड़े से जन्मों में प्राप्त कर

लेना कोई हंसी खेल नहीं है। श्रीमती एनी बेसेंट ने लिखा है कि चेलों की अवस्था को प्रकृति की सुनारवाली घरिया कहना चाहिये, क्योंकि उसमें पड़ कर पदार्थों का हानिकारक भाग जल कर उसमें सृष्टि की भलाई के लिये नवीन मिश्रण या पदार्थ तैयार होता।

इसकी अवश्यकता नहीं कि मनुष्य इस प्रकार की घरिया बने ही; परन्तु सच बात यह है कि ऐसी घरिया बनना एक प्रकार का मान है, जिसके प्राप्त करने के लिये लोग उत्साह पूर्वक प्रयत्न करते हैं। विशेष सत्य यह है कि जब मनुष्य ईश्वर के स्वात्मयज्ञ या आत्मत्याग को समझ लेता है तब वह उसमें तन मन से सहायक हो जाता है। और जो कुछ थोड़ा-सा उससे बन सकता है वह अवश्य करता है चाहे उसमें उसकी नीची वृत्तियों को कितना भी कष्ट क्यों न हो। वह अन्यथा कर ही नहीं सकता। पर यह बच्चों का खेल नहीं है, वास्तव में अति कठिन परिश्रम करना पड़ता है। परन्तु उत्साही शिष्य को इस बात का अनुभव होगा कि मनुष्य अपने काम में इतना प्रेम रख सकता है और उसमें उसको इतना आनन्द मिल सकता है कि उसके किये बिना उसको चैन नहीं पड़ता। चाहे उस काम के करने में उसकी मानसिक शक्तियों व उसके स्थूल, सूक्ष्म अथवा मानसिक कोषों पर कितना भी, और प्रायः, असह्य वज़न क्यों न पड़े।

स्मरण रहे कि जब सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को इस काम के करने और इस विकास को पूरा करने का समय आवेगा

तब अभी के खड़ा पहाड़ी रास्ता चढ़नेवाले शिष्य की अपेक्षा लोगों में उस कार्य के करने की अधिक योग्यता होगी। उस मनुष्य की बहुतसी अड़चनों का कारण तो यह है कि, वह चतुर्थ परिक्रमा के शरीरों से ही वह काम साधना चाहता है जिसके करने के लिये प्रकृति के भरोसे रहनेवाले कम पुरुषार्थी लोगों को सप्तम परिक्रमा के सुन्दर कोष पाते तक लाखों वर्ष ठहरना पड़ेगा। इस में सन्देह नहीं कि उन उत्तम कोषों के लिये इन दुर्बल मनुष्यों को भी वही कार्य करना पड़ेगा जो ऊपर कहा हुआ शिष्य अभी कर रहा है। परन्तु जब यह काम हजारों जन्मों में बट जाता है तब उसकी कठिनाई कम मालूम देती है।

चेले को परिश्रम करते समय सदैव आनन्द, शांति व चित्त की स्थिरता का अनुभव बना रहता है, जिसको पृथ्वी का कोई पदार्थ भङ्ग नहीं कर सकता। यदि ऐसा न होवे तो वह गुरुदेव का विश्वासघाती नौकर है, क्योंकि उस हालत में उसके कोषों पर पड़नेवाले खिंचाव या कर्ष के कारण वह अपने अन्तरात्मा का ज्ञान भूलकर शुद्ध को छोड़, अशुद्ध को ही अपना रूप समझने लगता है।

जब यह बिलकुल स्पष्ट है कि इस मार्ग से न चलने में चेले को अधिक दुःख होता है तब उस मार्ग को दुःख का मार्ग कहना कुछ हास्यजनक मालूम होता है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है उसको सच्चा शोक कभी नहीं सहना पड़ता। श्रीमद्भगवत् गीता के छठवें अध्याय के ४० वें श्लोक

में श्रीकृष्ण भगवानने अर्जुन से कहा है कि हे तात ! कल्याण करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।

यह बात तो चेले के अन्तर्जीवन के विषय की हुई । परन्तु भूलोक में उसके साथ कैसा व्यवहार होने की सम्भावना है इसका विचार किया जाय तो उस मार्ग को दुःख का मार्ग कहना अनुचित न होगा । निदान जब उसको संसार की भलाई के लिये कोई सार्वजनिक कार्य करना पड़ता है तब उसको बहुत कष्ट उठाना पड़ता है । चौदहवीं शताब्दि में फ्लेन्डर्स देश में रूइसब्राक नाम के एक ज्ञानी हो गये हैं । उन्होंने इस पथ पर चलने वाले लोगों के विषय में लिखा है कि कभी कभी इन बेचारों को दुनियां के उत्तम उत्तम पदार्थों वा अपने मित्र वा स्वजनों के सुख से वञ्चित होना पड़ता है । लोग उनका परित्याग कर देते हैं । उनकी पवित्रता पर अविश्वास और घृणा करते हैं उनके कामों का उलटा अर्थ लिया जाता है । उनके निकटवर्ती लोग उनका तिरस्कार और उनसे घृणा करते हैं । कभी कभी तो उन्हें नाना प्रकार के रोगों से दुःखित होना पड़ता है । श्रीमती ब्लेवेट्स्की ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि हमें इतिहास में ऐसा धर्म दूत (चाहे वह छोटा हो या बड़ा, दीक्षित हो अथवा नया शिष्य) कहां मिलता है जिसे गुप्त सत्य को प्रकट करने के लिये आने के कारण शूली पर न चढ़ना पड़ा हो, अथवा द्वेष, ईर्षा, व मूर्खता से भरे हुए अधम लोगों के द्वारा जिसकी बोटियां अलग अलग न कर दी गई हों । गुप्तज्ञान का ऐसा ही भयङ्कर नियम है । जिसका हृदय

इतना दृढ़ नहीं है कि वह मूर्खों के बकने पर भी स्थिर बना रहे, अथवा जिसमें इतनी क्षमाशीलता नहीं कि उन बिचारे अज्ञानी मूर्खों को क्षमा कर सके उसको पवित्र ज्ञान का परित्याग करना ही ठीक होगा। (देखो सीक्रेट डाक्ट्रिन ३-९०)

दुनियां में पहिले पहिल जब कोई नया सिद्धान्त प्रगट किया जाता है तब शुरू में लोग उसकी हँसी करते हैं फिर उस पर क्रोध प्रगट करते हैं। इतना सब हो चुकने के बाद वे उसको ग्रहण करते हैं और ऐसा दरसाते हैं मानो उस पर उनकी श्रद्धा सदैव से रही है। परन्तु इसके पहिले ही उस सिद्धान्त को प्रगट करनेवाला मनुष्य या तो मार डाला जाता है या हताश होकर मर चुकता है।

इस पथ पर अभ्यास करते समय में चेले की चेतनाशक्ति "वायस आफ़ दी साइलेन्स" में कहे तीनों भवनों में प्रवेश कर लेती है। उस पुस्तक में "भवन" शब्द से नीचे के तीन लोकों का मतलब है। पहला भवन "अज्ञान भवन" अर्थात् भूलोक है जहां हम जन्म लेते और मरते हैं। इस लोक को अज्ञान भवन कहना बिलकुल सार्थक है, क्योंकि उसमें हमको पदार्थों का केवल बाह्य और अपूर्ण ज्ञान होता है। दूसरा भवन "अध्ययन भवन" अर्थात् भुवर्लोक है। वहां हमें परीक्ष्यमाण काल की शिक्षा मिलती है, क्योंकि जब हमारे भुवर्लोक (लिङ्ग-शरीर) के चक्र खिलते हैं तब हमें भूलोक की अपेक्षा वहां वस्तुओं का इतना अधिक ज्ञान हो जाता है कि हमें ऐसा बोध होने लगता है कि यहां पदार्थों का पूरा पूरा रूप दिखाई देता

है। परन्तु और अधिक उन्नति होने पर मालूम हो जाता है कि वास्तव में हमारा यह ख्याल ठीक नहीं है।

"वायस आफ़ दि साइलेन्स" में चेतावनी दी गई है कि इस भूवर्लोक में हर एक सुन्दर से सुन्दर फूल तक में वासना रूपी सर्प लिपटा हुआ रहता है। यह सर्प अशुद्ध वासना है। आत्मोन्नति चाहनेवाले हर एक जिज्ञासु को उसका दमन करना चाहिये जिस में शुद्ध वासना को विकसित होने के लिये स्थान मिले। प्रेम का दृष्टान्त लो। अशुद्ध, स्वार्थयुक्त और अपने तरफ खींचने वाले प्रेम का सर्वथा दमन करना चाहिये। परन्तु उच्च, शुद्ध और निःस्वार्थी प्रेम का दमन कभी नहीं हो सकता; क्योंकि वह स्वयं ईश्वर का एक लक्षण है और इस मार्ग में उन्नति करनेवाले को उसकी आवश्यकता होती है। ऐसे प्रेम का त्याग करना चाहिये जिसके वश होकर मनुष्य यह सोचा करता है कि, मैं लोगों का कितना प्रियपात्र हो सकता हूँ या अमुक आदमी का मुझ पर कितना प्रेम है या क्या यह आदमी मुझ को उतना ही चाहता है जितना किसी दूसरे को चाहता है। हमें ऐसे प्रेम की आवश्यकता है कि जिसके वश होकर मनुष्य अपने आप को भूल जाता है और अपने प्रेमपात्र की सेवा का मौका ढूंढ़ा करता है।

भुवर्लोक बहुधा माया का लोक कहा जाता है। परन्तु यथार्थ में वहां हमको भूर्लोक की अपेक्षा पदार्थों का बहुत कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। बहुधा ऐसा होता है कि भुवर्लोक में लोग आसानी से धोखा खा जाते हैं, क्योंकि वहां

उनकी अवस्था हाल के जन्मे हुए बच्चों की सी होती है। उनको न तो दूरी का ज्ञान होता है और न एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति रहती है। हमको याद रखना चाहिये कि जिस प्रकार बच्चे को भूर्लोक के पदार्थों का ज्ञान धीरे धीरे प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार साधारण गति से चलने वाले मनुष्यों को भुवर्लोक के पदार्थों का ज्ञान भी धीरे धीरे होता है। परन्तु हम में से जो लोग विचारपूर्वक और विकासक्रम के योग्य समय आने के पूर्व ही पथ में प्रवेश करते हैं उनको इस प्रकार का ज्ञान योग्य काल के पूर्व ही प्राप्त हो जाता है और इस कारण उनसे भूलें होने की भी अधिक सम्भावना रहती है।

जो चेले योग्य गुरु की निगरानी में रह कर अपनी शक्तियों को विकास करने का प्रयत्न कर रहे हैं; उन्हें वे लोग जिनको उस लोक का अनुभव रहता है सहायता देते और मार्ग बतलाते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे चेले सहज में जोखिम में पड़ जाते और उन्हें हानि उठानी पड़ती। यही कारण है कि जो मनुष्य ऊँचे लोकों में काम करना चाहता है उसकी जांच कई प्रकार से की जाती है; और नवशिक्षित मनुष्य को सब प्रकार के भयङ्कर दृश्य बतलाये जाते हैं जिस में वह उनको समझ लेवे और आगे को आदत पड़ जाने के कारण उनसे भयभीत न होवे। यदि ऐसा न किया जावे और फिर उसको किसी भयङ्कर दृश्य का अचानक सामना करना पड़े तो कदाचित् उसको ऐसा धक्का बैठेगा जिससे वह फिर अपने स्थूल

शरीर में वापिस घुस आवेगा। ऐसा होने से
लाभकारी काम न कर सकेगा और उस धक्के से
को भी जोखिम है। जब नया शिष्य मु
खाता है तब उसमें उसी का दोष रहता है न कि उ
क्योंकि भूल होने का केवल एक यही कारण है।
वह अपने आसपास के पदार्थों से अपरिचित है

तीसरा भवन "ज्ञान भवन" अर्थात् स्वर्लोक
मनुष्य भुवर्लोक के पदार्थों के मोह से छूट जाता
परीक्ष्यमाण अवस्था को पार कर निश्चित्
सकता है। स्वर्लोक के परे अविनाशी बुद्धि लो
सब पदार्थ जाग्रत काल की दृष्टि से देखने से
भासते हैं, उन सब की ऐक्यता का ज्ञान न
पहिल उसी बुद्धि लोक में होता है।

कहा गया है कि "जब तक जिज्ञासु स्वयं
जावे तब तक वह उस पर नहीं चल सकता"।
उसको केवल पथही समझते रहेंगे और जब
किसी के उपदेश से चलते हैं या इसलिये कि
केवल बुद्धिपूर्वक देखा है और ग्रहण किया है
नहीं कहा जा सकता कि हमने पथ पर तनिक
है। यह सब एक ऐसी दशा को पहुँचानेवाल

और अन्यथा करना तुम्हारे लिये बिलकुल असम्भव हो जायगा। केवल ऐसा होने पर ही तुम पथरूप हो जाओगे।

यदि मनुष्य प्रयत्न न करे तो वह चढ़ नहीं सकता; इसके साथ साथ यह भी सत्य है कि यदि वह ऊपर न चढ़ेगा तो बहुत गिरेगा भी नहीं। बलवान् मनुष्य बहुधा बड़ी बड़ी भूलें करता है; परन्तु जिस बल के कारण वह भूलें कर सकता है उसी बल को सत् मार्ग में लगाने से बहुत उन्नति कर सकता है। शीघ्र उन्नति का असर सारे शरीर पर पड़ता है जिससे उस पर बहुत खिंचाव या कर्ष पड़ता है और इसी से मनुष्य में जो जो दुर्गुण होते हैं वे प्रगट होजाते हैं।

हम कुछ करें या न करें ऋषिसंघ का सङ्कल्प तो पूरा होवेहीगा। क्योंकि जो विकासरूपी विशाल खेल खेला जा रहा है उसमें हम मोहरें (गोटियां) के समान हैं। यदि हम बुद्धिमान् मोहरे बनें और उस खेल में सहायता देवें तो गुरुजनों की अड़चन बहुत कम हो जायगी और उसके साथ साथ हमारा कष्ट भी अनायास कम हो जायगा।

इस सब का अन्तिम फल क्या होगा? पूर्णता की प्राप्ति। उसको "अन्तिम फल" सापेक्ष रीति से कह सकते हैं सर्वरीति से नहीं। वास्तव में वह हमारे कार्य का अन्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब हम अपने सूर्यमण्डल के ईश्वर तक पूर्ण चेतना सहित पहुंच जायंगे और अपनी चेतना को उनकी चेतना में मिला देंगे तब भी हमें और आगे चलने को मार्ग बाकी रहेगा। उसके द्वारा

चल कर हम और भी ऊँची शक्तियों में जा मिलेंगे। एक ऊँचे ऋषि ने कहा है कि अशेष के पद के बहुत परे विकास की एक ऐसी अवस्था है जिसके अन्त में पहुंचने से पूर्ण मनुष्य के दस तत्व हो जाते हैं। अर्थात् सात कोष, और देशकालातीत त्रिपुटी रूप ईश्वर उसका आत्मा। ये सात कोष सात भूमिकाओं के बने रहते हैं अर्थात् प्रत्येक भूमिका या लोक में काम करने के लिये पूर्ण मनुष्य का एक एक कोष रहता है। ये सात भूमिकाएँ महा विश्व की स्थूल भूमिका की सात अन्तर्भूमिकाएँ होती हैं। इसलिये उक्त पूर्ण मनुष्य के सात कोष सारे विश्व की स्थूल भूमिका के सात अन्तर्लोकों में या अन्तर्खंडों में काम कर सकते हैं। परन्तु यह पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब कि मनुष्य को प्रत्येक भूमिका में अपने लिये एक एक शरीर बना लेने की शक्ति आ जाती है।

हमको बतलाया गया है कि अभी जितने मनुष्य जीवात्मा वर्तमान विकास के मार्ग में हैं उनमें से एक पञ्चमांश पूर्ण रीति से कृतकार्य होंगे अर्थात् सातवीं परिक्रमा के अन्त में पहिले "अशेख" पदवी को पहुंच जांयगे। दूसरे पञ्चमांश उस समय तक "अर्हत्" पद को प्राप्त होंगे और प्रायः उतने ही मार्ग के नीचे दर्जों में रहेंगे और बाकी दो पञ्चमांश जीव पांचवीं परिक्रमा के मध्य के नाजुक परीक्षा काल में इस विकास के बिलकुल पीछे छूट जांयगे।

जो लोग निर्दिष्ट दर्जे तक न पहुँच सकेंगे और अपने विकास को पूरा न कर सकेंगे उनको वह कार्य फिर दूसरी

ग्रह माला में करना होगा। जो लोग इस परिक्रमा में हार जांयगे और कृतकार्य न होंगे वे भी दूसरी माला में सिद्धि प्राप्त करेंगे। इस प्रकार यह भी संभव है कि वर्तमानकाल के सिद्ध और महात्माओं में से कोई कोई चन्द्रमाला के मनुष्य वर्ग में से हों जो वहां यथेष्ट उन्नति न कर सकने के कारण वहां की विकास की श्रेणी के पीछे छूट गये हों और अब वर्तमान विकास में अग्रगण्य हो गये हों। जैसे कोई लड़का जब पहिली वार किसी परीक्षा में पास न हो सका हो तो जब बारह महिने बाद वह उसी परीक्षा में बैठेगा तो अपने वर्ग में उसके अव्वल जाने की विशेष सम्भावना रहेगी।

जिस प्रकार एक कक्षा के बालकों में से बहुत थोड़े केवल ६ महिना अभ्यास करके वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के योग्य हो सकते हैं उसी प्रकार अभी तक बहुत थोड़े लोग मह... (अशेख) पद को प्राप्त हो सके हैं। क्योंकि स्मरण रक्खो कि अभी हमारे विकास का केवल आधा ही काल बीत चुका है। यही कारण है कि अभी तक पशु श्रेणी के बहुत थोड़े जी... अहंभाव या व्यक्तित्व को प्राप्त हुए हैं। जो पशु व्यक्तित्व प्रा... कर लेता है उसमें और उसके साथियों में उतना ही अन्तर हो जाता है जितना कि महात्मा पद को पहुंचे हुए मनुष्य औ... साधारण मनुष्य में होता है। जिस मनुष्य ने व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया है अथवा जो मनुष्य महात्मा पद को पहुँच गया है ये ...

कर सातवीं परिक्रमा के अन्त में इतना काम करेंगे वे अपने निर्दिष्ट उन्नति के पद पर इतने धीरे धीरे पहुंचेंगे कि उन्हें प्रायः विलकुल प्रयास न होगा।

इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की—मंद गति से अभीष्ट स्थान तक पहुँचना बहुत सुगम है। परन्तु उसमें एक बड़ी बाधा यह है कि मनुष्य दूसरों को कुछ भी सहायता न दे सकेगा वरन् उसी को औरों की सहायता की आवश्यकता होगी।

हम स्वयं अपनी उन्नति करते समय भी दूसरों को सहायता दे सकते हैं और हमें चाहिये कि अपनी शक्ति भर दूसरों की सहायता करें। यद्यपि हमें इसका फल अवश्य मिलेगा; परन्तु हमें यह कार्य फल की आशा से नहीं, बरन् संसार के उपकार के निमित्त करना चाहिये। जब तक मनुष्य केवल प्रवाह के साथ बहता जाता है तब तक उसको वहां ले जाने का भार प्रवाह पर ही रहता है। परन्तु जब मनुष्य स्वयं तैरने लगता है तब उस प्रवाह का वह बल जो उसकी सहायता में ख़र्च होता दूसरे काम के लिये बच रहता है; अर्थात् वह दूसरों की भलाई में काम आ सकता है और यदि वह मनुष्य भी दूसरों की सहायता के लिये कुछ करे तो वह अलग बात होगी।

"महात्मा" पद को पहुँचने पर जीव आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है और उस पद के प्राप्त होने से बल दूसरों की सहायता के लिये मुक्त हो जाते हैं। जो मनुष्य अपनी ही मुक्ति साधना चाहता है वह सब वासनाओं का नाश करके इस प्रकार कर्म कर सकता है की जिसमें उसे पुनर्जन्म न लेना

पड़े। इस प्रकार यद्यपि वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है; तोभी विकास के नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। सम्भव है कि उस नियम का असर उस पर बहुत समय के पश्चात् पड़े क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि जिस मनुष्य की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं वह साधारण मनुष्य से बहुत ही आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये। तथापि एक समय ऐसा अवश्य आवेगा जब कि धीरे धीरे, परन्तु दृढ़ता से, आगे बढ़नेवाले विकास के नियम का असर उस पर पड़ेगा और उसके अनिवार्य बल के कारण उस मनुष्य के स्वार्थी सुख का अन्त होकर उसको फिर जन्म लेना पड़ेगा और इस तरह वह फिरसे उसी आवागमन के चक्र में पड़ जायगा जिससे कि वह बचने की आशा रखता था।

बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि दीक्षा के समय जो गुप्त बातें बतलाई जाती हैं वे उन लोगों से जो दूसरों के मन के विचार जान सकते हैं किस प्रकार गुप्त रह सकती हैं। इन रहस्यों के इस प्रकार प्रगट होने का तनिक भी डर नहीं है। क्योंकि जब वे गुप्त बातें दीक्षा के समय चेले को बतलाई जाती हैं तो उसके साथ साथ उसे उनके गुप्त रखने का उपाय भी बतला दिया पाता है। यदि दीक्षित चेले का इतना विश्वासघाती हो जाना सम्भव होता कि वह उसे बताई गुप्त बातों को प्रगट करने का विचार करता तो भी कोई डर की बात न होती; क्योंकि उसका सम्बन्ध श्वेतसङ्घ से, जिसका वह भाग इतना घनिष्ट रहता है कि महात्माओं को उसके खराब

विचार का ज्ञान तुरन्त हो जाता और वह मनुष्य
भी प्रगट करने के पहले सारा गुप्त ज्ञान भूल जा
रहस्यों में कोई भी बात भयानक नहीं है। बात सि
ही है कि उनके जान लेने से जो बल प्राप्त हो जाता है
व्यवहार बुरे कामों में करने से बहुत भयङ्कर परिण
है। दीक्षित लोग एक दूसरे को बहुत कुछ उसी तरह
हैं जिस प्रकार कि फ्रीमेसन लोग आपस में एक
जानते हैं। उन्हीं के समान दीक्षित भी अपना
से नीचे के दर्जे के लोगों से छिपा सकते हैं परन्तु
ऊंचे दर्जे के लोगों से नहीं छिपा सकते।

"सिद्धसंघ" को सहायकों की कितनी भी
न हो परन्तु जब तक मनुष्य का आचरण वा
पाने के योग्य नहीं हो जाता तब तक वह दीक्षा
सकता। इसी प्रकार जब मनुष्य दीक्षा पाने के योग्य
है तब उसके पाने में भी कोई उसको बाधा नहीं पहुँचा
कभी ऐसा बेशक हो सकता है कि किसी मनुष्य
एक गुण की कमी हो और बाकी सब तरह से वह
के योग्य हो तो उसे उस न्यूनता के कारण बहुत
दीक्षा न मिल सकेगी, और जब वह अपनी कमी पूरी
तब सम्भव है कि वह और और बातों में ज़रूरत
उन्नति कर ले। इससे यह न समझना चाहिये

बड़ा आदमी कहते हैं वह सभी बातों में उन्नत और दीक्षा पाने के योग्य हो। इस विषय में किसी प्रकार का पक्षपात या भूल या उपेक्षा का होना असंभव है। जो जिस पदार्थ के पाने के योग्य नहीं होता उसको वह पदार्थ कोई दे नहीं सकता और न कोई उसकी उचित प्राप्ति से उसको रोक सकता है।

प्राचीन धार्मिक रहस्यक्रियाएँ। (संक्षिप्त)

सबसे पहिले तुमको यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सभी लोगों में और सभी धर्मों में धार्मिक रहस्य क्रियाएं रही हैं। ईसाई धर्म भी उनसे खाली न था। तुमको स्मरण होगा कि बाईबिल के गास्पेल भाग में लिखा है कि प्रभु ईसा ने अपने शिष्यों को ऐसी कई बातें बतलाई थीं जिन्हें वे साधारण लोगों को दृष्टान्त के रूप में कहा करते थे।

ग्रीस की धार्मिक रहस्य क्रियाओं के विषय में हमने दिव्य दृष्टि द्वारा बहुत बारीकी से शोध किया है और अपने पिछले एक जन्म में हमको खुद उसमें दीक्षा भी मिली थी। इससे हम पूर्ण निश्चय के साथ कह सकते हैं कि इन रहस्य क्रियाओं में कोई अश्लील और दुराचार की बात न थी। हां कोई कोई धार्मिक रहस्य क्रियाएं ऐसी थीं कि उनके साथ ही साथ कुछ उत्सव और बेकस देवता की पूजा हुआ करती थी। परन्तु कालान्तर में ये उत्सव और पूजा बहुत निन्दनीय रूप की हो गईं। ये पिछली रहस्य क्रियाएँ बिलकुल दूसरे

सम्बन्ध की थीं और बहुत पीछे से प्रचलित हुई थीं। असल रहस्य क्रियाओं का सम्बन्ध ग्रीस के इल्यूसियस ग्राम के मन्दिर से था। इन बिगड़ी हुई निन्दनीय पीछे की बनी रहस्य क्रियाओं का असल में इल्यूसियस की क्रियाओं से कुछ सम्बन्ध न था, हालांकि बाहरी कुछ बातों में ये उन असल क्रियाओं की नकल थीं।

यह तो तुमको मालूमही होगा कि रहस्य क्रियाओं के सदैव दो भेद बतलाये गये हैं—एक छोटे दर्जे की और दूसरी बड़े दर्जे की। इन दो भेदों का होना ग्रीस में सब को मालूम था और अधिकाँश लोग उनकी दीक्षा लिया करते थे। इनके सिवाय सच्ची गुप्त रहस्य क्रियाओं का एक और दर्जा सदैव वर्तमान था जिसका होना आम लोगों को नहीं मालूम था।

इस तीसरे दर्जे की शिक्षा न कभी आम लोगों को बतलाई जाती थी और न आगे कभी बतलाई जावेगी; परन्तु साधारण रहस्यज्ञान के दोनों दर्जों में कई ऐसी बातें हैं जो दूसरों को बतला दी जा सकती हैं। पहिले तो उनमें कुछ महत्व पूर्ण सूत्र या कहावतें सिखाई जाती थीं। उन में से कुछ हम यहां पर बतलाते हैं जिससे तुम उनको अच्छी तरह से समझ सको। उनमें से सब से प्रसिद्ध कहावत यह थी कि मृत्यु जीवन है और जीवन मृत्यु है। इससे यह प्रगट होता है कि उनको मृत्यु के पश्चात् के उच्च जीवन का हाल अच्छी तरह से मालूम था। दूसरी कहावत यह थी कि जो इस जीवनकाल में सत् की खोज करेगा वह मृत्यु के पश्चात् भी उसकी खोज करता

रहेगा और जो इस जीवन में असत् की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करेगा वह मृत्यु के पश्चात् भी उसी की प्राप्ति में लगा रहेगा। उनकी शिक्षा का एक बड़ा सिद्धान्त यह था कि आत्मा उच्च-लोकों से उतर कर स्थूल देह धारण करता है। उनकी शिक्षा में पुनर्जन्म का सिद्धांत भी शामिल था। तुम्हें स्मरण होगा कि यह बात रोम अथवा ग्रीस देश के बाह्यधर्मों में नहीं पाई जाती थी। अर्थात् वह आमतौर पर और इतने स्पष्ट रूप से नहीं सिखाई जाती थी; परन्तु आत्माके प्रकृति में उतरने की बात उन धर्मों की कथाओं में मिलती है।

पुराने समय में ग्रीस देश में छोटी छोटी रहस्य क्रियाओं का उत्सव एग्री नामक एक छोटे से स्थान में किया जाता था। दीक्षित लोग मिस्टी कहाते थे। कदाचित् तुमको मालूम होगा कि उत्सव के समय वे लोग अपनी दीक्षा सूचित करने के लिए हिरन के बच्चे का चमड़ा ओढ़ते थे। पुराने संकेत शास्त्र में यह चमड़ा लिङ्ग शरीर (एस्ट्रल शरीर) का सूचक है।

साधारण लिङ्ग शरीर में जो कई रङ्ग होते हैं उनका बोध चमड़े पर के धब्बों से होता था। जिन लोगों को छोटे दर्जे के रहस्यज्ञान की दीक्षा मिलती थी उन लोगों के लिये हिरन का चमड़ा पहिनना इसलिये उचित समझा जाता था कि उन्हें जो दीक्षा दी जाती थी उसका सम्बन्ध विशेष कर भुवर्लोक से रहता था। जो लोग उस संप्रदाय में भरती किये जाते थे उनको यह बतला दिया जाता था कि मृत्यु के पश्चात् भुवर्लोक में मनुष्य का जीवन किस प्रकार का होता है।
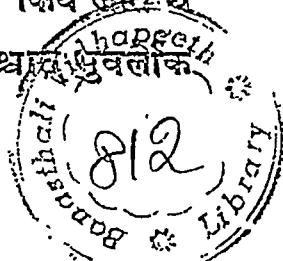
इस भूलोक के अमुक प्रकार के जीवन का फल भुवर्लोक में कैसा होगा, इस बात को उदाहरण और शिक्षा द्वारा स्पष्ट करने में बहुतसा समय खर्च किया जाता था। मानलो कि कोई मनुष्य इस भूलोक में लालची और इन्द्रियासक्त रहा है, तो उसकी अवस्था भुवर्लोक में किस प्रकार की होगी, इस बात को दिखाने के लिये मन्दिरों में नाटक अथवा लीलाएँ की जाती थीं, जिसमें उनको देख कर लोग भुवर्लोक के जीवन का हाल भली भांति जान लेवें। पुराने समय में जब इन लीलाओं के मुखिया स्वयं महात्मा अथवा उनके शिष्य रहा करते थे, तब वे अपनी शक्ति से भुवर्लोक की अवस्थाओं को स्थूल रूप में प्रगट कर लोगों को दिखा दिया करते थे, अर्थात् गुरु अपने योग बल से एस्ट्रल या ईथर प्रकृति के सच्चे रूप बना कर अपने शिष्यों को दिखाते थे। परन्तु आगे चलकर जो गुरु हुए उनमें सूक्ष्म को स्थूल रूप में लाकर दिखा देने की शक्ति न रही। तब वे उसको नाटक द्वारा या दूसरे प्रकार से बतलाने लगे। या तो पुरोहित लोग कभी कभी स्वयं नाटक के भिन्न भिन्न पात्र बनते थे, या कभी यन्त्र के द्वारा पुतलियाँ चलाकर बतलाते थे।

भुवर्लोक सम्बन्धी शिक्षा के सिवाय जगत् की रचना की भी शिक्षा इसी रीति से दी जाती थी। और और बातों के अन्तर्गत यह भी बतलाया जाता था कि हमारा सूर्य मण्डल और उसके भिन्न भिन्न भाग किस प्रकार उत्पन्न हुए। पहिले "नेबुला" जिससे तारे बनते हैं और गोलों (ग्रहों) की उत्पत्ति

का नाम एल्ड्रल और ईश्वर प्रकृति को उसी भार्य की बनाकर बतलाया जाता था। परन्तु जब सूक्ष्म को स्थूल रूप में लाने की शक्ति न रही तब सूर्य मण्डल के भिन्न भिन्न गोलों की परस्पर स्थिति और जगत् के नमूने के यन्त्र द्वारा बतलाई जाने लगी। * * * *

अब कुछ बड़ा रहस्य क्रियाओं के विषय में कहा जाता है। इनका उत्सव विशेष कर एथेन्स शहर के निकट इल्यूसियस ग्राम के मन्दिर में ही हुआ करता था। दीक्षित लोग ईपाप्टेय (epoptai) अर्थात् "खुली हुई आंखोंवाले कहलाते थे। उनका चिह्न जैसन का सुनहरी ऊन था। यह चिह्न मनोमय कोष का सूचक है; क्योंकि मनुष्य के ओजस् में पीला रंग बुद्धि को सूचित करता है। यह बात दिव्य दृष्टिवाले सभी लोग जानते हैं। दीक्षा के इस दर्जे में भी पिछले दर्जे की शिक्षा जारी रखी जाती थी। तुमको स्मरण होगा कि पहिले दर्जे में यह बतलाया जाता था कि भिन्न भिन्न प्रकार के जीवन का भुवर्लोक में कैसा कैसा असर होता है। बड़े रहस्यों में यह बतलाया जाता था कि अमुक प्रकार के जीवन अध्ययन अथवा कामना का स्वर्गलोक में कैसा फल मिलेगा। इन रहस्यों में मनुष्य और संसार के विकास का गहिरा मर्म भी समझाया जाता था। छोटे रहस्यों की नाईं बड़ी रहस्य क्रियाओं की भी बातें दृश्यों के द्वारा बतलाई जाती थीं। हालांकि मानसिक लोक की बातों को पृथ्वी पर दिखलाना और भी कठिन होता था।

छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की रहस्यक्रियाओं में आन्तरिक शिक्षा का प्रवन्ध रहता था जिसमें योग्य पात्र को यह सिखाया जाता था कि योग क्रिया किस प्रकार करनी और सिद्धि किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिये। छोटे रहस्यों में भुवर्लोक के विषय में केवल उपदेश द्वारा शिक्षा दी जाती थी, परन्तु गुरु लोग अपने चेलों की जांच बहुत बारीकी से करते थे और जब कोई चेला ऐसा दिख पड़ता था जिसके आचरण पर वे पूरा भरोसा कर सकते थे और उसमें सिद्धियां प्राप्त करने की योग्यता होती थी तब वे उसे अन्तरंग विभाग में भरती होने के लिये निमन्त्रण देते थे। वहां उसे यह सिखाया जाता था कि लिङ्ग (एस्ट्रल) शरीर को किस प्रकार काम में लाना और उसमें निकल कर किस प्रकार चेतना सहित कार्य करना चाहिये। जब ऐसे मनुष्य को बड़े रहस्यों में प्रवेश होने का समय आता था तब उसको केवल स्वर्गलोक की अवस्था का ही साधारण हाल नहीं बतलाया जाता था बरन् उसको मनोमय कोष की उन्नति करने की गुप्त रीति भी सिखाई जाती थी, जिसमें वह उस कोष को भी काम में ला सके।

जो लोग इस प्रकार केवल रहस्यों के ऊँचे दर्जों में ही नहीं बरन् उनके आन्तरिक मंडल में भरती होते थे उन्हें सब शिक्षा पा चुकने पर यह भी कह दिया जाता था कि जो कुछ तुमने अभी तक यहां सीखा है यह भी असल में केवल बहिरंग या बाहिरी ज्ञान है। उससे बहुत ही लाभ क्यों न हुआ हो पर

यह सब असल दीक्षा की तैयारी मात्र है जिसके पाने से तुम गुरुदेव के चरणारविन्दों में पहुंच कर संसार के शासन करने-वाले सिद्धसङ्घ में भरती हो सकोगे।

रहस्य ज्ञान क्रियाओं के सम्बन्ध में जिन जिन संकेतो का उपयोग किया जाता था उनका अर्थ हम और भी विशेष रूप से बतलाते हैं। प्रथम हम थर्सस (Thyrsus) नामी दण्ड को लेते हैं। उसके सिरे पर देवदार (pine) का फल लगा रहता है। हिन्दुस्थान में भी इस प्रकार का चिन्ह पाया जाता है; परन्तु उसमें दण्ड की जगह बांस की सात गांठवाली लकड़ी रहती है। किसी किसी रहस्यक्रिया में उस दंड के स्थान में लोहे की एक पोली छड़ काम में लाई जाती थी जिसके विषय में कहते थे कि इस छड़ में अग्नि रहती है। गुप्त ज्ञान के जानने वाले को इसका अर्थ समझना कुछ कठिन नहीं है। उस दंड से या सात गांठ की बांस की लकड़ी से मेरुदंड (रीढ़) और सात चक्रों का अर्थ है। इसका वर्णन हिन्दू धर्म की पुस्तकों में पाया जाता है। गुप्त अग्नि का अर्थ कुण्डलिनी है जिसका उल्लेख सीक्रेट डाक्ट्रिन नाम की पुस्तक में किया गया है। थरसस दंड केवल एक चिह्न ही न था बरन् उसको उपयोग में भी लाते थे। उसमें ओजस् शक्ति बहुत भरी रहती थी। जब दीक्षित लोग उसकी सहायता से स्थूल शरीर त्याग कर सूक्ष्म शरीर में निकलते थे तब उन्हें पूरी चेतना रही आती थी। जो पुरोहित उसमें ओजस् शक्ति भरता था वही उसको चेले की रीढ़ से टिका देता था और इस प्रकार उसको कुछ अपनी

ओजस् शक्ति देता था, जिसमें शिष्य ... तथा प्रयत्नों में सहायता मिले। *

यद्यपि ग्रीस, रोम, मिश्र और ... क्रियाएँ बहुत काल से लोप हो गई हैं ... हुआ है कि संसार के लिये भीतरी ज्ञान का मार्ग खुला न रहा हो। जब मध्यम का... में चारों तरफ़ महा अन्धकार छाया हुआ ... क्रूशिअन्स" और दूसरी गुप्त समाजें थीं ... देने के लिये तैयार रहती थीं। आज ... लोग उद्यम में लिप्त हो रहे हैं और ... तब भी "थियोसोफ़िकल सोसायटी" ... उठाये हुए है और इसके द्वारा महा... तक पहुँच सकते हैं। रहस्यक्रियाओं ... अन्तरङ्ग समाज में भी दर्ज हैं और उसके ... के सहायक भी श्वेतसंघ के अधिकारी हैं ... दीक्षाओं की कुञ्जी है।

तुमको यह भी स्मरण रखना ... पुराने समय में गुप्त रखने की प्रतिज्ञा ... थीं, अब हमारी समाज के द्वारा सारे ...

उचित है कि हम इस दान के योग्य पात्र बनने का प्रयत्न करें। हमारे सत्कर्म का फल है कि हमको ऐसा मौका मिला है। अगर इस वार हम उसको हाथ से जाने देवेंगे तो फिर हजारों वर्ष तक हम उसके पाने के योग्य न होंगे। यदि तुमको मालूम होता (जैसा कि हमें मालूम है) कि जो बातें अब हमारे सामने खुलासा हैं उनके जानने के लिये पूर्व में हमें क्या क्या अड़चनें उठानी पड़ी थीं, तो कदापि तुम इस मिले हुए अवसर का लाभ उठाने का व थियोसोफ़ी से मिले हुए हक़ के योग्य बनने का प्रयत्न करते। हमको यथाशक्ति यह प्रयत्न अभी करना चाहिये।

सर्ग २

धर्म ।

ईश्वर ।

विचारवान् लोग जिन साकार, सगुण या
का वर्णन करते हैं वे हमारे सूर्यमण्डल के
हो सकते हैं और दूसरे कोई साकार ईश्वर
हैं। जो गुण साकार ईश्वर के कहे जाते हैं वे
अन्याय, ईर्षा, क्रूरता और पक्षपात उनमें नाम को
सकते। जो अपने ईश्वर में ऐसे दुर्गुण चाहते
दूसरा देवता ढूंढ़ना चाहिये। अपने सौर जगत्
सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् हैं। उनमें
ज्ञान और प्रताप पूर्ण रूप से पाये जाते हैं। वे
शक्तिसम्पन्न त्रिगुणात्मक व्यक्ति हैं। यद्यपि वे
श्वर हैं तथापि हम नहीं कह सकते कि वे अज्ञेय
से कितने नीचे दर्जे पर हैं। उन परब्रह्म के
भी महा जगत् के एक रजकण के समान है।
में उन ईश्वर का स्वरूप हमारी कल्पना में ज़रा
सकता है। भूलोक में सूर्य ही उनका मुख्य

होता है वैसे सूर्य को एक प्रकार से उनके बल का केन्द्र अथवा उनके शरीर के मुख्य केन्द्र का वाह्य रूप समझो।

यद्यपि सारा सूर्यमंडल उनका स्थूल शरीर है तथापि उनकी क्रियाएँ सूर्यमंडल के भीतर की अपेक्षा उसके बाहर बहुत ही अधिक हुआ करती हैं। हमने स्वयं उनकी कोई आकृति बनाने की चेष्टा कभी नहीं की; परन्तु उनको सब पदार्थों में व्याप्त मानकर ही हम उनका ध्यान करते हैं। इस प्रकार हम भी ईश्वर हैं (सोऽहं) और दूसरे सब मनुष्य भी ईश्वर हैं और वास्तव में ईश्वर के सिवाय कुछ नहीं है।* इसके साथ यह भी है कि यद्यपि यह सारा सूर्यमंडल जो हमको बहुत ही विस्तीर्ण जान पड़ता है उन्हीं का आविर्भाव है तथापि उनके लिये वह एक बहुत ही छोटी चीज़ है। क्योंकि यद्यपि वह सब उन्हीं का अङ्ग है तथापि इसके बाहर और इससे ऊपर वे ऐसे प्रताप और ऐश्वर्ययुक्त हैं जिसका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार यद्यपि हम अद्वैतवादियों से इस बात में सहमत हैं कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर है तथापि हम उनसे और भी आगे जाते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि सौर जगत् के बाहर उनकी और भी अधिक स्थिति है। श्रीमद्भगवद्गीता के १०वें अध्याय के ४२वें श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् को हम अपने एक अंश से धारण करके स्थित रहते हैं।

---

*सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

उनके साथ हमारी सायुज्यता या सारूप्यता किस रीति से होती है इसको हम शब्दों के द्वारा किसी प्रकार नहीं कह सकते। एक तरह से हम उनके शरीर के कललकण (Cells) होवें परन्तु निस्सन्देह हम इससे बहुत बढ़ कर भी हैं; क्योंकि हमारे द्वारा उनका जीवन और उनकी शक्ति दोनों ऐसे प्रकार से प्रगट होती हैं कि जिसकी तुलना हमारे शरीर के कललकणों के द्वारा हमारे आत्मिक जीवन के अविर्भाव से नहीं हो सकती। महाविश्व की नीची भूमिका (लोक) में जो उनका आविर्भाव है उसके विषय में हम ऐसा मान सकते हैं कि उनका पहिला रूप सब से ऊँची अन्तर्भूमिका (महा परानिर्वाण) में दूसरा उससे नीचे की अन्तर्भूमिका (परानिर्वाण) और तीसरा निर्वाण लोक के ऊपरी भाग में है। इस तरह जब कोई महात्मा उन्नति करते हुए धीरे धीरे अपनी चेतना को एक के बाद एक ऊपर के लोकों में ले जाते हैं तब पहिले उनको ईश्वर की तीसरी मूर्ति का ज्ञान होता है और वे उससे अपनी सायुज्यता पूर्ण रीति से सिद्ध कर लेते हैं। इसके बहुत काल पश्चात् दूसरी और पहिली मूर्तियों से पूर्ण सायुज्यता प्राप्त होती है।

स्वयं हमने (जो अभी तुमसे वार्तालाप कर रहे हैं) उनका दर्शन एक रूप में किया है जो उनके जगत् का रूप नहीं है। यह रूप तो साधारण अनुभव के बिलकुल परे है और नीचे के लोकों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे लिये इस रूप का दर्शन एक साहसिक परीक्षा के द्वारा संभव हो सका। क्षण भर के लिये दो भिन्न किरणें (दो भिन्न

प्रकार के जीव) पूर्ण रूप से सम्मिलित कर ली गई थीं और इस प्रकार के सम्मेलन से जहां तक अलग २ वे दोनों जीव पहुँच सकते थे, क्षण भर के लिये उससे बहुत ऊंचे तक वे जीव जा सके। ईश्वर अपनी सृष्टि के बहुत २ ऊपर हैं, उस सृष्टि पर वे इस प्रकार विराजमान हैं जैसे कमल के सिंहासन पर। मानलो कि मनुष्य जाति विकास करते २ उनके सामीप्य को प्राप्त होगी पर वे उस पद से भी बेहद बड़े हैं। हम कल्पना करें कि मनुष्य के हिरण्यगर्भ रूप (augoeides) को बढ़ाते २ अपरिमित हद तक बढ़ा दिया हो ऐसा वह रूप हमको दिखाया। पर हम नहीं कह सकते कि उनका वह रूप स्थायी है या वह केवल एक लोक में ही दिख सकता है। भला ये बातें कौन जान सकता है? परन्तु हम इतना जानते हैं कि इस रूप दर्शन की बात महत् सत्य है। इस प्रकार के आविर्भाव को देखकर फिर उसे कोई कभी नहीं भूल सकता।

हम एक और ऊंचे प्रकार के थोड़े से अनुभव का वर्णन करते हैं। यद्यपि उसका पूरा २ और यथोचित वर्णन करना बहुत ही कठिन है। जब मनुष्य अपनी चेतना को कारण शरीर के सबसे ऊंचे विभाग में अर्थात् मनोलोक की सबसे ऊंची अन्तर्भूमिका में ले जाता है और उसे केवल वहां के परमाणु द्रव्य में एकाग्रता से स्थिर करता है तब उसकी चेतना को आगे चलने के लिये तीन मार्ग मिलते हैं जो कुछ २ पदार्थों की लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई रूपी तीन परिमाण से मिलते हैं। या तो वह उसे स्वर्गलोक की नीचे की

अर्थात् दूसरी अन्तर्भूमिका में लेजावे या यदि वह अपने बुद्धिकोष को काम में लाने लायक विकास कर चुका है तो ऊपर के बुद्धिलोक की सबसे नीची अन्तर्भूमिका में लेजावे।

उसकी चेतना को चलनेके लिये दूसरा छोटा सीधा मार्ग भी है जिसके द्वारा एक लोक की प्रथम यानी परमाणुवाली अन्तर्भूमिका से सीधे उसके ऊपर या नीचे के लोक की प्रथम यानी परमाणुवाली अन्तर्भूमिका में वह जा सकता है। ऐसा होने से चेतना किसी मध्यस्थ अन्तर्खंड में गये बिना ही स्वर्लोक की प्रथम अन्तर्भूमिका से नीचे के भुवर्लोक के अथवा ऊपर के बुद्धिलोक के प्रथम अर्थात् परमाणुवाले अन्तर्खंड में जा सकती है। बुद्धिलोक में प्रवेश करने की योग्यता जीव में आ गई हो तब ही वह चेतना मनोलोक से ऊपर चढ़ सकती है नहीं तो नहीं। इस सीधे मार्ग को ठीक समझने के लिये ऐसा मानलो कि प्रत्येक लोक के प्रथम अर्थात् परमाणुवाले अन्तर्खंड एक डंडे पर पास पास रक्खे हुए हैं और दूसरे छः छः अन्तर्खंड डंडे पर ढीली लिपटी हुई रस्सी के समान उस पर सात फंदों में लटके हुए हैं। अब स्पष्ट है कि मनुष्य एक परमाणु वाले अन्तर्खंड से दूसरे लोक के परमाणुवाले अन्तर्खंड में जाने के लिये डंडे पर से यातो सीधा या रस्सी पर के फंदों पर से जो नीचे के अन्तर्खंडों के सूचक हैं नीचे ऊपर सरक सकता है। अभी तीसरी संभावना बाकी है। इसमें लंबाई उंचाई के समान पूर्व लिखी दो रेखाओं के समकोन वाली तीसरी रेखा में या

दिशा में अर्थात् जाना नहीं होता पर उस दिशा में देखने की संभावना होती है। अर्थात् अपने लोक से ऊपर के लोक को देखना हो सकता है जिस प्रकार कुंए की तली में से मनुष्य आकाश के तारे की ओर देखता है।

क्योंकि इस सौर जगत् के मनोलोक की प्रथम अर्थात् परमाणुवाली अन्तर्भूमिका से महाविश्व के मनोलोक की वैसी ही प्रथम या परमाणुवाली अन्तर्भूमिका को सीधा रास्ता है। इस सीधे मार्ग से चढ़ने की योग्यता से हम अभी असीम दूरी पर हैं पर निदान एक बार हमें उस मार्ग से ऊपर देखने का अनुभव प्राप्त हुआ है। वहां क्या दिखाई पड़ा था उसके वर्णन करने की चेष्टा करना वृथा है क्योंकि शब्दों के द्वारा उसका लेशमात्र भी ज्ञान नहीं हो सकता। परंतु उस पर से इस एक बात का अटल विश्वास अवश्य होता है कि जिस चेतना को या जिस बुद्धि को हम अपनी समझ बैठे हैं वह हमारी बिलकुल नहीं है परंतु उसी ईश्वर की है। ये कुछ उसकी चेतना और बुद्धि की झलक, परछांई, या प्रतिबिम्ब नहीं है वरन् वास्तव में अक्षरशः उसकी चेतना और बुद्धि के अंशरूप हैं। यद्यपि यह बात समझ में नहीं आती परंतु वह अक्षरशः सत्य है। ध्यान के समय हम लोग सोऽहं (वह मैं हूँ) और हंसो (मैं वह हूँ) ऐसा साधारण रीति से जपते हैं परंतु उसका साक्षात्कार करना, उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना, उसका इस प्रकार अनुभव कर लेना, तदाकार वृत्ति का हो जाना, ये बातें मुंह के जपने से बिलकुल निराली हैं।

सब जीव उन्हीं ईश्वर से लगातार जीव तरंगों में, जिनका वर्णन थियासोफ़ी की पुस्तकों में किया गया है, निकलते हैं। पहिली तरंग उनके तीसरे (ब्रह्मा) रूप से निकलती है। उसी से पहिले के स्थित परमाणुओं में परस्पर मिलापसे रसायन शास्त्र के मूलतत्व बनाने की शक्ति आती है। ईसाई धर्म पुस्तकों में इस कार्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि ईश्वर का आत्मा आकाश के जल के ऊपर चलायमान होता है * आगे चलकर जब सृष्टि की योनियां निश्चित रूप से स्थित हो जाती हैं तब उसकी दूसरी मूर्ति से दूसरी जीवन तरंग आती है। उससे खनिज, वनस्पति, और पशु योनियों के लिये जीवसंघ बनते हैं। ईसाई धर्म में इस कार्य को "क्राइस्ट तत्व का प्रकृति में अवतरण" कहते हैं। केवल उसी से हमारा होना भी संभव होता है। परन्तु जब हम मनुष्य योनि का विचार करते हैं तब हम इस बात का स्मरण रखते हैं कि मनुष्य जीव स्वयं उस तीसरी जीवन तरंग का आविर्भाव है जो उसकी पहिली मूर्ति अर्थात् अविनाशी और प्रेम पूर्ण पिता से आती है। आकाश का प्रत्येक स्थिर तारा हमारे सूर्य के समान एक सूर्य है और हर एक अपने २ ईश्वर का अंश रूप आविर्भाव है।

---
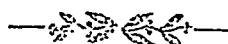
* हिन्दू लोग इसी को नारायण का समुद्र के ऊपर शयन करना कहते हैं। अनु०

बौद्ध धर्म (संक्षिप्त)

भगवान् बुद्ध का विचार करते समय हमें इस बात को न भूलना चाहिये कि वे केवल एक धर्म स्थापन करनेवाले की अपेक्षा बहुत ऊंचेदर्जे के हैं। रहस्य आचार्यसंप्रदाय या श्वेतसंघ के वे प्रधान कर्मचारी हैं। एक को छोड़कर बाकी के सब महात्माओं से उनका दर्जा ऊंचा है। बौद्धधर्म के पूर्व उन्होंने अपने पिछले जन्मों में और भी कई मत स्थापित किये थे। व्यास भगवान् जिनसे हिन्दुस्थान के धर्म को इतनी बहुत सी सहायता मिली थी ये ही थे; मिसर देश की प्राचीन धार्मिक रहस्यक्रियाओं के स्थापन कर्ता श्रीमान् हर्मीज़ इन्हीं के पूर्व अवतार थे; सूर्य्य और अग्नि की पूजा का प्रचार करानेवाले श्रीमान् ज़रथुस्र (ज़ोरोस्टर) ये ही थे और ग्रीस देशके प्रसिद्ध कवि आरफियस भी ये ही थे।

अपने अंतिम जन्म में जब ये भगवान् गौतम हुए तब उनका कोई नया मत फैलाने का विचार पहिले से न था। तब हिन्दूधर्म्म बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रह चुका था। इसलिये और २ धर्मों की नाईं उसके मूल रूप में बहुतसा फेरफार होगया था। केवल उसी को सुधारने के लिये उनका जन्म हुआ था। यह धर्म्म आजकल इतना कड़ा नहीं है जितना उस समय हो गया था। भगवान् बुद्ध के समय सेकुछ पहिले आमतौरपर लोगों को ऐसा ख्याल हो गया था कि ब्राह्मण के सिवाय किसी दूसरे वर्ण को मोक्ष नहीं मिल सकता।

ऐसे समय में भगवान् बुद्ध ने जन्म लेकर अपने उपदेश द्वारा आनंददायक न्याय नियम के द्वार सबके लिये चौड़े खोल दिये। उन्होंने बतलाया कि लोग अपने असल धर्म से बिलकुल हट गये हैं। उन्होंने ज़ोर देकर बार बार कहा कि जो ब्राह्मण अपना वर्णविहित कर्म नहीं करता वह नतो आदर के योग्य है और न उसे मुक्ति मिल सकती है और यदि दूसरे वर्ण का कोई मनुष्य सच्चे ब्राह्मण के कर्म करे तो उसे ब्राह्मण समझना चाहिये। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से मनुष्य के लिये जो २ उन्नति की संभावनाएं होती हैं वे सब उसके लिये भी हैं, दूसरे वर्ण में जन्म होने से उन में कोई अंतर नहीं पड़ता।

पूर्व में जो सिद्धांत बतलाये जाते थे उनसे मोक्ष की प्राप्ति असीम दूरी पर मालूम होती थी। ऐसी अवस्था में साधारण संसारी मनुष्य के लिये निरास होकर लापरवाह हो जाना स्वाभाविक था। श्रीबुद्धभगवान् ने उन्हें बीच के मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। उनका कहना था कि यद्यपि तपस्या करना और धर्म में निष्ठा रखना यह मार्ग उन लोगों के लिये खुला नहीं था तथापि उसके कारण उनको लापरवाह और दुराचारी नहीं होना चाहिये। उनने उन्हें यह भी बताया कि तुम लोग संसार में रहकर भी अपना जीवन उच्च श्रेणी का बना सकते हो, और अध्यात्म विद्या की ऊंची बातों में और बाल की खाल निकालनेवाली तर्कनाओं में चाहे तुम प्रवीण न हो सको पर विकास संबंधी मोटी २ बातों को तो इतना

समझ सकते हो जिससे तुम अपने जीवन को उसके अनुकूल बना सको।

उनका कथन था कि किसी भी ओर की अतिशयता या एक-देशीयता का ग्रहण करना युक्तिविरुद्ध है। एक ओर साधारण संसारी मनुष्य धन और शक्ति पाने के स्वप्न में पड़कर निरन्तर अपने धंधे में मग्न रहता है और सार वस्तु का तनिक भी विचार नहीं करता। इसीसे उसका जीवन मूर्खता युक्त और दूषित है। परन्तु इसी प्रकार दूसरी तरफ़ का नितान्त संन्यास का मार्ग भी मूर्खता से भरा है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को संसार से बिलकुल विरक्त होकर केवल अपने स्वार्थ साधन के हेतु उससे कुछ भी संबंध न रखना चाहिये। उनका मत यह था कि सत्य और सुंदरता का मध्यम मार्ग सबसे उत्तम और कुशल है। उन लोगों के लिये, जो उसके योग्य हों, अपना जीवन केवल अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति में बिताना, निस्सन्देह सबसे अच्छा है परन्तु संसारी मनुष्य भी अपना जीवन उत्तम, सच्चा और आध्यात्मिक बना सकता है।

उनके सिद्धान्त युक्तिसिद्ध और सामान्य बुद्धि के आधार पर थे। वे यह चाहते थे कि मनुष्य मूढ़विश्वास न कर अपनी आँख खोलकर अपने आसपास देखे और समझे। उनका कथन था कि यद्यपि संसार में उदासी और क्लेश दिखाई पड़ते हैं तथापि महान् विकास क्रम, जिसका मनुष्य एक अंश मात्र है, सर्वकाल में न्याययुक्त रहता है और जिस

नियम के आधार पर संसार चल रहा है वह एक अच्छा नियम है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उसको समझें और उसके अनुकूल चलें। वे कहा करते थे कि सम्पूर्ण जीवन कष्टकारी है परन्तु मनुष्य स्वतः अपना दुःख बना लेता है। क्योंकि वह सदैव उस वस्तु के पाने की इच्छा किया करता है जो उसके पास नहीं होती। वे यह उपदेश करते थे कि बहुत से पदार्थ प्राप्त करने की अपेक्षा इच्छाओं को कम करने से सुख और संतोष की प्राप्ति आसानी से होती है।

इसलिये उन्होंने अपने उपदेशों की व्यवस्था अति आश्चर्य-जनक रीति से की थी। सब उपदेशों को कुछ भागों में बांट दिये थे जिनके नाम सरलता से याद हो सकते थे। उनकी व्यवस्था की छन्द पद्धति इस प्रकार विचार पूर्वक रक्खी गई है कि उसे याद कर लेना बहुत सरल है। उस धर्म की बड़ी २ बातें तो इतनी सरल हैं कि एक बच्चा भी उसके चार उच्च आर्यसत्य* और उत्तम (आर्य) अष्टांग मार्ग और उससे सूचित हुए जीवन के नियमों को समझ सकता और याद रख

*ये चार आर्यसत्य ये हैं १ जन्म, जरा, व्याधि, मरण रूपी दुःख (२) इस दुःख की उत्पत्ति का कारण, वासना (समुदय) (३) वासना क्षय से दुःख का नाश (दुःख निरोध) (४) दुःख नाश का मार्ग (निरोधगामिनी=प्रतिपदा)। इस चौथे को अष्टांग मार्ग कहते हैं जैसे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाचा, सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यग् स्मृति, सम्यग् समाधि। अनु०

सकता है। इतना होने पर भी उनका इतना बड़ा विस्तार है कि उनसे एक पूरा तत्वविचार या दर्शनशास्त्र बन जाता है; जिसका अध्ययन बड़े २ बुद्धिमान् जन्म भर करें तब भी उनसे उनको जीव सम्बन्धी नया २ ज्ञान सदैव मिलता रहता है। वे प्रत्येक विचार का बहुत बारीकी और विस्तार से विभाग करते थे। उनके बनाये हुए द्वादश निदान अथवा उनके बतलाए हुए विचार और उससे उत्पन्न हुए कार्य के बीच के क्रम को देखने से यह बात अच्छी तरह प्रगट होती है। उनके चार उत्तम सिद्धांतों में से हर एक के लिये एक २ शब्द है परंतु जब उसका विस्तार किया जाता है तो प्रत्येक शब्द से लगातार कितने विचारक्रम उत्पन्न होते हैं। अष्टमार्ग के लिये जो शब्द रक्खे गये हैं उनका और "वायस आफ़ दि साइलेन्स" (Voice of the Silence) नामी पुस्तक में कहे हुए बड़े साधनों का भी ऐसा ही हाल है। ये गुण बुद्धि, शक्ति और प्रेम के भिन्न २ रूप हैं। कहीं २ उनकी संख्या ६ कही गई है परन्तु बहुत जगह १० मानी गई है। छः गुण ये हैं:---पूर्ण उदारता, पूर्ण सदाचार, पूर्ण धैर्य, पूर्ण बल, पूर्ण सत्य, और पूर्ण बुद्धि। चार और गुण जो कभी २ इनमें जोड़ दिये जाते हैं ये हैं:—पूर्ण संतोष, पूर्ण दृढ़ निश्चय, पूर्ण दया, और पूर्ण त्याग (अपरिग्रह)।

वास्तव में हिन्दुस्थान में बौद्धधर्म का लोप हो गया है परन्तु उसका असर स्थायी रूप से बना हुआ है; देश भर में उनके उपदेश की कड़ी छाप अब भी दिखाई देती है। उनके

पहिले जीवों का बलिदान देना सर्वत्र प्रचलित था। अभी भी कहीं कहीं उसका प्रचार है परन्तु पहिले से बहुत ही कम। क्योंकि उनका कहना था कि इस प्रकार की बातों से कोई भी सतोगुणी देवता प्रसन्न नहीं हो सकते। देवता तो पवित्र आत्म-त्याग चाहते हैं।

उस समय के आकाशिक लेखों को दिव्य दृष्टि से देखने से मालूम होता है कि बुद्ध भगवान् खुले स्थान में उपदेश दिया करते थे। वे बहुधा किसी वृक्ष की जड़ में बैठकर उपदेश करते थे और श्रोतागण स्त्री पुरुष सब मिलकर उनके आसपास जमीन पर बैठा करते या वृक्षों से टिक कर खड़े रहते थे; छोटे छोटे बालक उस जनसमूह के किनारे पर दौड़ते या खेलते फिरते थे। इन बड़े आचार्य की आवाज़ अपूर्व, दिव्य, भरी हुई और गूंजनी मंजुल थी और देखने में वे ऐसे भव्य थे कि वे तुरन्त ही सुनने वालों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। उनके कथन पर बहुधा लोगों की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी और यदि कहीं कुछ थोड़े से उनसे सहमत नहीं भी होते थे तो भी वे उनको प्रेम की दृष्टि से अवश्य देखते थे। सुननेवाले धर्म के भाव से गद्गद हो जाते थे और जब कोई ऐसी बात कही जाती थी कि जिसका प्रभाव उनके हृदय पर विशेष रूप से पड़ता था तो हाथ जोड़कर उनकी प्रशंसा में वार वार "साधु!" "साधु!" का उच्चार करते थे।

उनके इस प्रकार के प्रभाव का कुछ कारण यह भी था कि उनके तेजोमंडल या ओजस् (aura) के कंप अत्यन्त ही

बलवान् थे और उस मंडल का इतना बड़ा विस्तार था कि सब श्रोता गण उसमें समाये रहते थे। उपदेश सुनते समय उन श्रोता गणों के ओजस् के कंप श्री बुद्धदेव के ओजस् के कंपों के समान गति करने लगते थे। उनके ओजस् का असर अकथनीय था। जबतक श्रोता उसके भीतर रहते थे तबतक उनमें से मूर्ख से मूर्ख भी उनके कथन को पूरी तरह से समझ लेते थे। परन्तु उस हद से बाहर होने पर उसी बात को उतनी अच्छी तरह समझना उनके लिये बहुधा कठिन हो जाता था। उनके इस प्रकार के आश्चर्यजनक प्रभाव का ही कारण था कि उनके बहुतसे श्रोता अर्हत् पद को पहुंच जाते थे जैसा कि कई बौद्धधर्म ग्रन्थों में कहा गया है। बौद्धधर्म की पुस्तकों में हम जहां तहां लिखा पाते हैं कि बुद्ध भगवान् के एक एक धर्म सम्बन्धी व्याख्यान के बाद सैकड़ों और हज़ारों लोग अर्हत् पद पर पहुंच गये। अर्हत् दर्जा बड़ा ऊंचा है, इसका विचार करने से यह बात हमारे विश्वास में तब न आसकी और हमने समझा कि यह पूर्व देशों की अतिशयोक्ति होगी। परन्तु पीछे से उसका विशेष शोध करने से हमें मालूम हो गया कि वह वास्तव में सत्य है। यह फल इतना आश्चर्यजनक था कि उसके कारणों की और अधिक खोज करना आवश्यक मालूम पड़ा। उस खोज से हमको मालूम हुआ कि यह सब फल उनके केवल एक जन्म के कार्य का ही नहीं था वरन् पिछले अनेक जन्मों के कार्य का परिणाम था।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि भगवान् गौतम का

अंतिम जन्म पांचवीं मूल जाति में हुआ था तथापि वे चतुर्थ मूल जाति के बुद्ध थे। एटलान्टिस देश की कई जातियों में उनके कई जन्म हुए थे, और वे हरएक जन्म में धर्म के बड़े आचार्य ही रहे थे। प्रत्येक जन्म में उनके कई चेले हुआ करते थे जो धीरे २ जीवन और विचार के ऊंचे दर्जों को पहुंचते थे। जब उनका हिन्दुस्थान में अंतिम और सर्वश्रेष्ठ जन्म हुआ तब उनने ऐसा प्रबंध किया था कि जिन जीवों पर उनने भिन्न २ जन्मों और देशों में अपना प्रभाव डाला था उन सबके जन्म भी उसी समय हुए। इस तरह उनके श्रोताओं में से बहुतसे तो पूर्ण साधन संपन्न और विशेष रूप से उन्नतिप्राप्त जीव थे और जब उनपर बुद्ध भगवान् के अपूर्व बलवान् ओजस् का प्रभाव पड़ता था तब वे उनके कथन के प्रत्येक-शब्द को अच्छी तरह से समझ लेते थे और उनके जीवात्माओं को आश्चर्यजनक उत्तेजन मिलता था। यही कारण था कि उनमें इतनी जल्दी अनुकूलता होजाती थी और इसी कारण से इतने बहुत से लोग इतने थोड़े काल में इतने ऊंचे दर्जे को पहुँच गये थे।

"सीक्रेट डाक्ट्रिन" नामी पुस्तक के तीसरे भाग में "बुद्ध रहस्य" नामका एक बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद अध्याय है। उसमें लिखा है कि श्री बुद्ध भगवान् ने अपने आंतरिक कोष बहुत ही ऊंचे दर्जे की प्रकृति से बनाये थे जिसके परमाणुओं के सर्पिलचक्र (Spirillæ)

पूर्ण विकसित थे * । उनके बुद्धि, कारण और मानसिक कोष दूसरे महर्षियों के उपयोग के लिये इकट्ठे रहे आते हैं क्योंकि उनके समान दूसरे कोष बनाना बहुत ही कठिन है । महात्मा क्राइस्ट, जीसस के स्थूलशरीर के साथ इन्हीं कोषों को काम में लाते थे और तबतक जीसस अपने कोषों में स्थित होकर ऊपर के लोकों में ठहरे रहते थे । श्री आदि शंकराचार्य्य जी ने भी इन्हीं कोषों का उपयोग किया था । इसी से कोई २ लोग गलती से उन्हें बुद्ध भगवान् का अवतार या "प्रच्छन्न बुद्ध" कहते हैं । श्री जगद्गुरु मैत्रेय भगवान् जिन्हें ईसाई लोग क्राइस्ट कहते हैं और जिनका फिर हाल में ही आगमन होने वाला है, इन्हीं कोषों का उपयोग फिर करेंगे, और जो स्थूल शरीर अभी उनके लिये तैयार हो रहा है उसमें उनको मिला देंगे ।

इस धर्म का ठीक बोध कराने वाली इंग्रेजी भाषा की सब से अच्छी किताब सर एडविन आरनोल्ड की बनाई हुई "लाइट आफ़ एशिया" *है ।

भगवान् बुद्ध के समय में जगत् में और भी कई धर्मगुरु उत्पन्न हुए थे जैसे लाउट्ज़, कन्फ्यूशियस, और पिथेगोरस ।

---

* पूर्ण विकसित परमाणुओं में ७ सर्पिल होते हैं । अभी की प्रकृति में केवल ४ सर्पिल हैं । अनु०

* इसके आधार पर हिन्दी में बुद्धचरित नाम का ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने छपाया है अनुवा० ।

भगवान् बुद्ध के कारण जो पृथ्वी पर ऊँचे आत्म बल की वर्षा हुई थी उसका लाभ लेकर जगत् के कई भागों में बड़े २ धर्म गुरु भेजे गये थे।

ईसाई धर्म (संक्षिप्त)।

बाइबिल का अर्थ अक्षरशः सही न समझना चाहिये क्योंकि उसमें की बहुत सी बातें संकेत रूप से लिखी गई हैं और कोई २ बातें उसमें की सत्य नहीं हैं। ईसाईधर्मप्रवर्तक के जीवन को दिव्यदृष्टि द्वारा देखने से मालूम पड़ता है कि मसीह के १२ शिष्य थे ही नहीं। उनका कोई पता नहीं लगता। मसीह के जीवन चरित में ये १२ शिष्य किसी अर्थ से दाखिल किये गये हैं—कदापि बारह राशियों की सादृश्यता बताने के लिये। ईसा के शरीर में क्राइस्ट ने आवेश किया था। ये ईसा कुछ अधर्म या हराम से पैदा नहीं हुए थे जैसा कि बाइबिल से मालुम पड़ता है, न उनका पिता बढ़ई था। वास्तव में ये यहूदियों के उत्तम कुल में-उनके पुराने राजकुल में-उत्पन्न हुए थे।

सत्य तो यह है कि चार गास्पेल या सुसमाचार ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य माने जाने के हेतु से लिखे ही नहीं गये थे। पेलिस्टाइन के दक्षिण में मरुस्थल के एक मठ में मेथिअस नाम का एक साधु रहता था। उसने हीब्रू भाषा में एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा था। ये चार गास्पेल वास्तव में इसी ग्रन्थ के आधार पर बने हैं। उस मेथिअस का विचार था कि दीक्षा

की प्रधान बाते कहानी के रूप में लिखी जावें। उसने उस कहानी में सच्चे ईसा के जन्म की कुछ बातें मिला दीं। इन ईसा का जन्म सन् १०५ ईस्वी पूर्व में हुआ था। इन बातों के सिवाय उसने उस ग्रन्थ में एक दूसरे अप्रसिद्ध हठी धर्मोन्मत्त उपदेशक के जीवन की भी कुछ बातें शामिल कर दी थीं जो प्राणदण्ड पाकर सन् ईस्वी ३० के लगभग मारा गया था। उसने इस पुस्तक को अपने एक बड़े मित्र के पास भेजा जो एलेक्ज़ेन्ड्रिया के एक बड़े मठ का अधिपति था। उसने इन मठाधिपति से यह प्रार्थना की थी कि ये स्वयं या इनके कोई सहायक कदापि इसे सुधार कर ग्रीक भाषा में लिखकर प्रगट करें। इन मठाधिपति ने यह काम अपने कुछ तरुण साधुओं के सौंपा और प्रत्येक को यह कार्य उसकी स्वतंत्र इच्छानुसार करने दिया। इस प्रकार कई ग्रन्थ भिन्न २ योग्यता के बने क्योंकि हर एक लेखक ने मूलग्रन्थ का कुछ भाग लेकर बाकी की कहानियां और बातें अपनी बुद्धि और रुचि अनुसार बाहर से भर दीं। इन ग्रन्थोंमें के आज कल चार ग्रन्थ प्रचलित हैं और अपने लेखक साधुओं के नाम से-मेथ्यु, मार्क, ल्यूक और जान के नाम से-प्रगट हैं। सेंट जान रचित गास्पेल या सुस-माचार के आरम्भ में जो वचन लिखा है, वह उसका बनाया नहीं है पर दूसरे ग्रन्थ से उद्धृत है। क्योंकि वह हमें मसीह के बहुत काल पूर्व के एक हस्तलिखित ग्रन्थ में मिला है, जो ग्रंथ क्राइस्ट के समय में भी बहुत पुरातन माना जाता था। उस ग्रंथ में यह बचन ज्यान (Dzyan) के एक श्लोक के

साथ लिखा था और इस श्लोक का भी ग्रीक भाषा में भाषान्तर हुआ था।

क्रियाकाण्ड। (संक्षिप्त)

क्रियाकांड के मार्ग से भी बहुत से लोग उन्नति करते हैं। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि वास्तव में किसी भी धार्मिक क्रिया की आवश्यकता नहीं है। जो मनुष्य पवित्रता के मार्ग में प्रवेश करना चाहता है उसे यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये और क्रिया कांड की आवश्यकता में विश्वास त्याग देना चाहिये। क्योंकि यह विश्वास एक बाधा है जो उसे निर्वाणपद से रोक रखती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कभी २ क्रियाकांड से इच्छित फल न मिले, पर यह अर्थ है कि क्रियाकांड किसी के लिये भी वास्तव में आवश्यक नहीं है और आत्मोन्नति की इच्छा करनेवाले को उनके बिना कार्य साधना सीखना चाहिये। किसी २ प्रकृति के मनुष्यों के लिये क्रियाकाण्ड का मार्ग सरल है। उससे उन्हें सहायता मिलती है और वे ऊंचे उठते हैं। पर ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिन्हें क्रियाकांड अपने इष्ट देव के पास पहुँचने में बाधा रूप प्रतीत होते हैं।

ईसाई धर्म में मसीह ने ऐसी व्यवस्था की है कि क्रियाकांड द्वाराही उनका आशीर्वाद प्रजा को मिल सके; उदाहरणार्थ यूकेरिष्ट की क्रिया में नैवेद्य में उनका इतना आशीर्वाद भर जाता है कि उससे देवता लोग खिच आते हैं। उस क्रिया से

नैवेद्य पाने वालों का और वहां के चहुंओरवालों का बहुत कल्याण होता है। इसमें लोगों की भक्ति से बहुत सहायता मिलती है।

प्रार्थना

प्राय: सबही बड़े धर्मों के चलानेवालों ने अपने २ अनुयायियों को उन धर्म संस्थापकों को प्रार्थना करने में उत्साह नहीं बढ़ाया और प्राय: ये अनुयायी भी इतने समझदार थे कि व प्रार्थना नहीं करते थे। उन धर्मप्रवर्तकों के पास कोई विचारपूर पहुंच सकेगा या नहीं यह बात इसपर निर्भर है कि वे धर्मप्रवर्तक पीछे से विकास के किस मार्ग में गये हैं और उनका पृथ्वी से अभीतक संबंध है या नहीं। यदि उनके पास तक पहुँच हो सकती है और किसी की प्रार्थना उनके पास तक पहुँचो, तो संभव है कि यदि वे योग्य समझें, तो वे पृथ्वीपर के अपने किसी शिष्य का ध्यान उसकी ओर खिंचा देंगे। पर जिस किसी को यह मालूम है कि ऐसे बड़े सत्पुरुष ऊंचे लोकों में जगत् कल्याण के कैसे भारी कार्य में लगे हुये हैं वह अपनी छोटी २ तुच्छ कामनाओं द्वारा उनका ध्यान अपनी ओर खींचे ऐसा संभव नहीं जंचता। उसे यह बात अवश्य मालूम होगी कि जो कुछ सहायता उसे चाहिये वह विशेष योग्य रीति से उसे उसके निकटवर्ती महापुरुषों द्वारा मिल सकेगी। इस भूलोक में भी हमलोग छोटे छोटे बालकों को अक्षर पढ़ाने में विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का समय वृथा खर्च नहीं कराते।

किसी संत महात्मा से प्रार्थना की जावे तो उसका उत्तर देना उस संत की उन्नति पर आश्रित रहेगा। संत महात्माओं का भुवर्लोक का वास थोड़े काल का होता है। यदि उस काल में उसके पास कोई प्रार्थना पहुंची तो वह अवश्य यथाशक्ति उस प्रार्थी की इच्छा पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा। पर ऐसी प्रार्थना उसके पास तक पहुंच सकेगी इसका निश्चय नहीं है। क्योंकि वह अपने नये विराव में पूर्ण तरह से लगा रहेगा।

जब वह स्वर्गलोक को चला जायगा तो वहां उसके पास पृथ्वी की कोई बात नहीं पहुंच सकती। पर इस अवस्था में भी उसके पास प्रार्थना भेजने से कुछ फल अवश्य होगा। ऐसा संत स्वर्गलोक से मनुष्य जाति के प्रति अपना प्रेम निरन्तर वर्षाता रहेगा। जिसके ऊपर यह वर्षा पड़ेगी उसका उससे आत्मिक कल्याण होगा। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे संत महात्मा को प्रार्थना करनेवाला मनुष्य उसके सम्बन्ध में आवेगा और उसका बहुतसा प्रेम प्रवाह अपनी ओर खींच लेवेगा, हालांकि उस संत को उसका कुछ भी भान न हो। यदि संत की इतनी उन्नति हो चुकी हो कि वे अपने विकास के अर्थ स्वर्ग गये बिना ही शीघ्र शीघ्र जन्म लेने लगें तो इस विषय में दूसरे प्रकार का फल होगा। ऐसी अवस्था में वे चाहे जन्म धारण किये हों या भुवर्लोक में हों वे सदैव पृथ्वी की पहुंच के भीतर बने रहेंगे और यदि कोई प्रार्थना ऐसी तीव्र हो कि उनके भुवर्लोक में रहते समय उनके पास तक पहुंचे तो बहुत करके वे उसके उत्तर में यथाशक्ति सहायता देवेंगे।

परन्तु सौभाग्य से जो हजारों लोग प्रार्थना द्वारा अपनी आत्मा अर्पण करते हैं—चाहे यह अज्ञानता के कारण क्यों न हो पर पूर्ण श्रद्धा के साथ होना चाहिये—उनके विषय में ये सब बातें लागू नहीं होतीं और उन प्रार्थनाओं का फल दूसरी रीति से होता है। श्रीकृष्ण भगवान् ने भगवद्गीता (अ० ९।२३) में बताया है कि सब सच्ची प्रार्थनाएं किस प्रकार उनके पास पहुंचती हैं, चाहे वे अज्ञानता के कारण किसी भी दूसरे देवता को क्यों न अर्पण की गई हों। एक ऐसी चेतना है जो सर्व अन्तर्यामी है और जो विशेष आत्मानुभव के लिये किसी भी प्रकार के सच्चे प्रयत्न का उत्तर देने में नहीं चूकती। उसके कार्य करने के कई मार्ग हैं। कभी कदाचित् किसी देव का ध्यान प्रार्थी की ओर आकर्षित किया जाता है; कभी उन मनुष्य सहायकों के द्वारा सहायता पहुंचाई जाती है जो मनुष्य जाति के कल्याणार्थ भुवर्लोक और स्वर्गलोग में सहायता का काम करते हैं। ये देव या मनुष्य सहायक यदि अपना दर्शन देवें तो यह प्रार्थी उन्हें अपना वही संत समझेगा जिनसे उसने प्रार्थना की थी। इसके उदाहरणार्थ बहुतसी कहानियां हैं। जैसे ऐसे एक प्रसंग पर हमको लोगों ने सेंटफिलिप नेरी समझा और उस प्रसंग के हमारे एक छोटे साथी को सेंट स्टेनिस्लौस कोस्का समझा। हमारे प्रेसीडेन्ट को भी कई प्रसंग पर लोगों ने, जिनकी वे सहायता करती थीं, देवदूत समझा।

शैतान ।

शैतान यह कोई व्यक्ति नहीं है। कोई २ लोग ऐसे हैं जो मानते हैं कि उनने उसके साथ कोई इकरार कर लिया है। कभी २ ऐसे लोग ऐसे करार को अपने रक्त से लिखते हैं। इसका परिणाम प्रायः इस बात पर निर्भर है कि उस प्रसंग पर कौन व्यक्ति उसका रूप धारण करता है। कई प्रकार के ऐसे बहुतसे जीव हैं जो इस प्रकार की दिल्लगी या विनोद से मनुष्य को नुकसान पहुँचा कर बहुतसा आनन्द प्राप्त करते हैं। परन्तु ऐसे जीव कितने ही बुरे क्यों न हों किसी मनुष्य का "जीव" या आत्मा उनके किसी काम का नहीं। न ऐसे करार करनेवाले मूर्ख मनुष्य का जीवात्मा अपने मालिक या दूसरे किसी के काम पड़ सकता है। यह सब मूर्खता भरा मिथ्या विश्वास है। मनुष्य तो वास्तव में जीवात्मा है और वह अपने को बेच नहीं सकता है न कोई उसका खरीददार हो सकता है।

पर ऐसी बहुतसी व्यक्तियां हैं जिनमें ऐसी योग्यता है कि वे किसी मनुष्य के लिये बीस वर्ष तक लगातार इसलोक की समृद्धि दे सकें और वे कभी कभी ऐसा करने को तैयार भी रहतो हैं। वे लोग यह कार्य प्रायः कोई स्थूल बदले के एवज़ में करते हैं जैसे बालक, बकरे या मुर्गी का बलिदान। जीवात्मा का इस इकरार में कोई भाग नहीं रहता। ये व्यक्तियां जीवात्मा को अपने अधिकार में नहीं ले सकतीं और यदि ले भी

सकतीं तो वे उसको कोई उपयोग में नहीं ला सकतीं। पर मनुष्यदेह उनके काम का है और आवेशद्वारा उसका उपयोग करने का अवसर पाने के लिये वे व्यक्तियां कभी २ किसी के साथ कोई प्रकार का करार कर लेती हैं। ऐसी व्यवस्था कर लेने से उस मनुष्य पर इनका विशेष प्रभाव पड़ता है। पर जब मनुष्य को अपनी मूर्खता मालूम पड़ जावे तो उसको चाहिये कि यथाशक्ति ऐसे आवेश को न होने देवे। ऐसी मूर्खताभरी क्रियाएं जैसे अपने रक्त से दस्तखत करना—इनसे कोई भेद नहीं होता।

बुराईवालों का या दुरात्माओं का कोई संघ नहीं है। स्वार्थपरायण वाममार्गी हैं पर प्रत्येक वाममार्गी * अकेला एकान्तवाला जीव है। वह अपने लिये अलग काम करता है। वे आपस में एक दूसरे का भरोसा नहीं करते। श्वेत संघ में प्रत्येक को दूसरे का पूर्ण भरोसा है। पर वाममार्गियों में एक दूसरे पर भरोसा नहीं हो सकता क्योंकि सब अपने २ स्वार्थ की ही चिन्ता करते हैं।

---

* यहां वाममार्गी से उस वाममार्गी का अर्थ है जो नितान्त स्वार्थपरायण है और अपने स्वार्थ के लिये जगत् की उन्नति यथाशक्ति रोकने का और सन्मार्गवालों को भुलावे में डालने का प्रयत्न करता है। इनमें सिद्धियां भी होती हैं। कोई २ वाममार्गी वास्तव में केवल आत्मज्ञान की इच्छा करते हैं और जगत् के कार्य में बाधा नहीं डालते। उनसे यहां अर्थ नहीं है। अनु०

पर बुराई शब्द से यहां पर हमारा क्या अर्थ है। विनाश-कारी शक्ति को बहुधा पुरुष या स्त्री रूप से वर्णन करते हैं। पर उसका केवल यही अर्थ है कि पुराने रूपों का नाश होकर उस सामग्री से नये और ऊंचे प्रकार के रूप बनते हैं। इस भारतवर्ष में यह शक्ति शिव है पर उन्हें कोई बुराई नहीं कह सकता। वे तो ईश्वर के एक अति उच्च व्यक्त रूप हैं। रूपों के संहार के नियम की आवश्यकता है ताकि उससे जीवों की उन्नति हो। एक ऐसे बड़े देव हैं जिनका एक काम जल प्रलय के काल का निर्णय करना है। पर ये देव जगत् के कल्याणार्थ ही चेष्टा करते हैं। कोई ईश्वरदूत या फिरिश्ता ईश्वर से बागी होने के कारण स्वर्ग से निकाल दिया गया हो यह विश्वास मिल्टन कवि के कारण हुआ। इंजील में जाब की पुस्तक में यही बात दूसरे रूप से कही गई है। वहां पर शैतान मिल्टन के वर्णन से बिलकुल दूसरे प्रकार का है। बौद्ध लोगों में "मार" कामना का देव है। पर यहां पर उसका अर्थ केवल यही है कि मनुष्य का सारा संचित कर्म नाना रूप धारण कर उसके भोग के लिये एक दम उतरता है। ज्ञान प्राप्त होने पर कर्म को पूरा पूरा चुका देना पड़ता है।

यह कथन कि सारे स्थूल पदार्थ, भेद और बंधन सब बुरे हैं, भूलभरा है। यदि बुराई शब्द का साधारण अर्थ लिया जावे तो प्रकृति कुछ बुरी नहीं है। पुरुष और प्रकृति समान हैं। प्रकृति पुरुष के विरुद्ध नहीं है। प्रकृति हमको हमारे शरीरों के कारण अड़चन देनेवाली मालूम पड़ती है। पर इस

लोक में हम वह पाठ सीखने के लिये आये हैं जो स्थूल जीवन के बिना हम सीख ही न सकते। स्थूल लोक के अनुभवों से हमारी चेतना में निश्चयपना और चौकसाई आ जाती है जो और लोकों में हमें यहां के आवश्यक अनुभव के बिना किसी प्रकार मिल ही न सकतीं। पर जगत् में बहुत सी भलाई भी है और उसका विचार करना अच्छा है क्योंकि हमारे विचारों से उन वस्तुओं की पुष्टि होती है जिनका हम विचार करते हैं। स्वार्थपरायण वाममार्गियों के विषय में सोचने और बात करने से उनका ध्यान तुम्हारी ओर आकर्षित होता है और उसका परिणाम प्रायः अति अवांछनीय होता है।

हिन्दू धर्म।

जब अज्ञान पादरी लोग हिन्दुओं के ३३ करोड़ देवताओं की टीका करते हैं तब वे एक ऐसे धर्म का अति मिथ्या वर्णन करते हैं जो उनके धर्म की अपेक्षा बहुत ही विज्ञान सिद्ध है। और धर्मों के समान हिन्दू धर्म को भली भांति मालूम है कि ईश्वर एक ही हो सकता है चाहे उसके असंख्य आविर्भाव होवें। इन सब को ईश्वर या देवता कहना हास्यजनक है।

सूर्यमंडल के स्वामी (ईश्वर) से नीचे किसी के लिये ईश्वर या "god" शब्द का व्यवहार न करना चाहिये। ईसाई धर्म में ईश्वर या God शब्द के विषय में जो सब अच्छी बातें कही गई

हैं वे सब इन सूर्यमंडल में व्याप्त ईश्वर को लागू पड़ती हैं। इस मंडल में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उनका अंश न हो। पर इतने पर भी ये अपने मंडल से बहुत बड़े हैं। निरपेक्ष, निर्गुण परब्रह्म के विषय में कोई सत्य ग्रहण करने की तो हम में कोई योग्यता ही नहीं है; हमारे मन इतने छोटे हैं। इस कारण उनके विषय में हम जो कुछ सत्य सोच सकेंगे वह बहुत ही थोड़ा होगा। भगवान् बुद्ध तो अपने चेलों को यही सलाह दिया करते थे कि सी भारी बातों के विषय में उन्हें कुछ विचार न करना चाहिये। क्योंकि उस विषय में किसी प्रकार का निर्णय होना असंभव है और उससे कुछ लाभ नहीं निकलेगा।

हिन्दू देवताओं की मूर्तियों में बहुधा ओजस् शक्ति भरी रहती है। तेवहारों में जब इन मूर्तियों को सड़कों में से निकालते हैं तब लोगों पर उनका असर निस्सन्देह अच्छा पड़ता है। बहुतसे हिन्दू मन्दिरों में तो चिरस्थायी प्रबल बल कार्य करते हैं; उदाहरणार्थ मदुरा का मन्दिर। एक बार जब हम उस नगर को गए थे तो शिव के मन्दिर से हमें कुछ श्वेत भस्म और पार्वती के मन्दिर से कुछ लाल कुंकुम दिये गये थे। हमने इन दोनों में इतनी बहुत ओजस् शक्ति भरी हुई पाई कि वह उनमें कई वर्षों तक और बहुत भ्रमण करने पर भी बनी रही।

हिन्दुस्थान असल में क्रियाकाण्ड और विधियों का देश है। यहां का धर्म इनसे भरा हुआ है और बहुतसों को तो

स्वयं भगवान् मनु ने नियत किया था। पर यह भी निश्चय है कि बहुत सी क्रियाएं बहुत पीछे से जोड़ी गई हैं। कोई २ तो उनमें से ऐसे नियम हैं जो किसी जाति के आरम्भ में अति आवश्यक होते हैं; पर आर्य जाति के पूर्ण प्रकार से जम जाने पर उन नियमों का अब कोई काम न रहा। बहुत सी क्रियाओं के होते समय उन्हें देखने से स्पष्ट रूप से मालूम हो जाता है कि असल में उनका क्या अर्थ रहा होगा हालांकि अब वे क्रियायें अर्थशून्य हो गई हैं और उनसे अब कोई फल उत्पन्न नहीं होता। नये मनुष्य जीवों के लिये ये विधियां उपयोगी होती हैं। बहुतसों को उनसे बहुत आनन्द और लाभ मिलता है। पर वास्तव में किसी भी विधि या क्रिया के बिना न चल सके, ऐसा नहीं है। उन्नतिप्राप्त पुरुष को ये बन्धन नहीं रहते।

आदि काल में प्रत्येक गृहस्थ अपने कुटुम्ब का आचार्य या पुरोहित भी था। पर सभ्यता के बहुत असरल और पेचीदा होने पर ये विधियें और क्रियाकांड भी कठिन और संकीर्ण होते गये। इसलिये खास प्रकार से शिक्षा प्राप्त पुरोहितों का एक वर्ग भी बन गया।

पुरोहितों को पुरानी क्रियाओं को आज करते देख कर दुःख होता है। येही क्रियाएं पूर्वकाल में साक्षात् फल देनेवाली होती थीं पर आज उनसे प्रायः कोई फल उत्पन्न नहीं होता। इन दिनों में लोग अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग नहीं करते। वे अपने मंत्र पढ़ते हैं, "ॐ भूः भुवः स्वः" पर इसके उच्चारण

से कोई फल उत्पन्न नहीं होता। पूर्व काल में आचार्य लोग इस मंत्र का उच्चारण करते समय अपनी इच्छाशक्ति भी उसमें लगाते थे और अपनी तथा उपस्थित प्रभावग्राही या नाजुक प्रकृतिवाले लोगों की चेतना मंत्र उच्चारण करते समय एक लोक से दूसरे लोक तक पहुंचा देते थे।

हिन्दुस्थान के कई हजार वर्ष पूर्व के एक जीवन की जांच दिव्य दृष्टि द्वारा जब हम कर रहे थे तब एक आश्चर्यजनक क्रिया के किये जाने में हमारे इस कथन का एक प्रचंड उदाहरण हमें मिला। सब लोग एक भीतरी कमरे में गये और बिलकुल अँधेरे में खड़े रहे। उस क्रिया के प्रारम्भ में आचार्य ने धीरे धीरे और गंभीरता पूर्वक इन शब्दों का उच्चारण किया और जो लोग उसके आस पास खड़े थे उनमें से अधिकांश में प्रत्येक शब्द का उचित असर पैदा हुआ। ॐ शब्द के उच्चारण से लोगों के मन की अवस्था और उनके भाव आचार्य के मन की अवस्था और उसके भावों के समान हो गये। फिर भूः शब्द के उच्चारण करने पर उन लोगों को कमरे में मामूली प्रकाश दिखाई देने लगा और उससे उन्हें वहां के भौतिक पदार्थ दिखने लगे। जब थोड़ी देर के पश्चात् दूसरे शब्द का उच्चारण किया गया तब कुछ समय के लिये लोगों को भुवर्लोक की दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई और तीसरे शब्द के उच्चारण से उनको मनोलोक की दृष्टि मिल गई जिससे उनको अपने आसपास उस ऊंचे लोक का आनन्द और उसकी शक्ति का अनुभव प्राप्त होने लगा। इसके पश्चात् जितनी देर तक और

श्लोकों का पाठ होता रहा उतनी देर तक इस प्रकार की अवस्था रही आई।

वास्तव में ये असर थोड़ी देर के लिये ही थे और जब वह क्रिया समाप्त हो चुकी तब उसमें भाग लेनेवाले लोगों की ऊँचे दर्जे की चेतना भी जाती रही। परन्तु यह उनके लिये एक बड़ा महत्वपूर्ण अनुभव था और उन पर उसका यह प्रभाव पड़ा कि दूसरी बार फिर जब इस प्रकार की क्रिया की गई तब उनकी ऊँचे दर्जे की चेतना अधिक शीघ्र और विशेष जाग्रत हो गई। परन्तु आजकल इस प्रकार का कार्य कहीं भी होता हुआ नहीं मालूम होता। आजकल आचार्य ईंधन रखता है और अग्नि के आवाहन के लिये मन्त्र पढ़ता है और फिर दिया सलाई से अग्नि प्रज्वलित करता है! पुराने समय में अग्नि के अधिष्ठाता देव यथार्थ में आते थे और, जैसी कि पुरानी कहावत है, स्वर्ग से अग्नि उतरती थी। परन्तु ये सब बातें अब लुप्त हो गई हैं और उसका केवल बाह्य खोखला रूप रह गया है।

तीर्थयात्रा की प्रथा भी बिलकुल सतर्क और पदार्थशास्त्र सिद्ध है। जहां किसी पवित्र मनुष्य का आश्रम रहा हो, अथवा जहां दीक्षा के समान कोई महत्व का कार्य हुआ हो वहां पर बहुधा बड़े बड़े मन्दिर बनाये जाते हैं। ये मन्दिर कभी कभी किसी महापुरुष के अस्थिपर भी बनाये जाते हैं। मन्दिर इनमें से चाहे जिस उद्देश्य से बनाया गया हो परन्तु वह स्थान दृढ़ ओजस् का केन्द्र हो जाता है जिसका असर हज़ारों वर्ष तक रहा आता है। और जब कोई प्रभावशाली

या नाजुक प्रकृति का मनुष्य ऐसे स्थान पर पहुँचता है तो उसको इस असर का ज्ञान होता है और इस असर से निस्स-न्देह उसको लाभ पहुँचता है। जहां कहीं बहुत ऊँचे दर्जे का दृढ़ कम्प होता है तो वह उस मनुष्य के कम्पों को, जो उसके असर की हद्द के भीतर आता है, कुछ समय के लिये अपनी उंचाई पर उठा लेता है।

जब कोई यात्री ऐसे स्थान पर आवे और कदाचित् लगातार कई दिनों तक उस पर वहां के ओजस् का असर पड़े तो उसको निस्सन्देह लाभ होगा। भिन्न २ लोगों पर उनकी प्रभाव ग्रहण करने की योग्यता के अनुसार कम ज्यादा असर पड़ता है। इस प्रकार का तीर्थस्थान बुद्धगया का बोधी नाम का पीपल का वृक्ष है। इस स्थान पर भगवान् गौतम को "बुद्ध" पद प्राप्त हुआ था। यह तो सच है कि जो वृक्ष अब वहां पर है वह आदि वृक्ष नहीं है। आदि वृक्ष तो मध्यम काल में (८००-१२०० स० ई० के भीतर) किसी समय उखड़ गया था, वर्तमान वृक्ष केवल उसका पौधा है। परन्तु तिस-पर भी उस स्थान का बहुत ही दृढ़ ओजस् अब तक बना है और सम्भव है कि कई शताब्दियों तक बना रहेगा।

जातिवर्ण

कहते हैं कि आदि में प्रत्येक वर्ण का जुदा २ रंग हुआ करता था। जाति को संस्कृत भाषा में वर्ण कहते हैं और वास्तव में वर्णशब्द का असल अर्थ रंग है। हमने इस विषय

की खोज नहीं की है परन्तु निदान यह तो स्पष्ट है कि जो रंग भिन्न २ जाति के मनुष्यों के कहे जाते हैं वे उन लोगों के ओजस् के रंग नहीं हैं। केवल छोटे बालक का ओजस् श्वेत रंग का होता है। महात्माओं के अत्यन्त प्रकाशमान ओजस् में भी अनेक रंग होते हैं तोभी किसी कारण से ब्राह्मण का श्वेत वर्ण होना पुराने काल से माना हुआ चला आता है; क्षत्रिय का कुछ संबंध लाल वर्ण से कहा जाता है। मनुष्य के ओजस् में प्रेमके गुलाबी रंग से लेकर क्रोध का गहरा लाल रंग तक और काम वासना के भूरे लाल तक कई प्रकार के लाल रंग होते हैं। परंतु इस प्रकार के रंग जैसे दूसरे लोगों के ओजस् में रहते हैं वैसेही क्षत्रिय के ओजस् में भी पाये जाते हैं। वैश्य लोगों का पीला वर्ण कहा जाता है। परंतु मनुष्य के ओजस् में पीला रंग बुद्धि का सूचक है। लेकिन वैश्य को और लोगों से बुद्धि में श्रेष्ठ समझने के लिये कोई कारण नहीं है। शूद्र का रंग काला कहा जाता है।

यदि हम यह मान लेवें कि इन रंगों का संबंध प्राचीन और मूल जातियों से था तो इन बातों को समझना अधिक सरल हो जाता है। आर्य लोग, जिनसे ब्राह्मण वर्ण बना है, उन लोगों की अपेक्षा, कि जिनमें वे आकर बसे थे, निस्सन्देह उज्ज्वल रंग के थे। जब इस देश में आर्य्य लोगों की चढ़ाई हुई थी उस समय ताम्र वर्ण के टोलटेक अनार्य लोग यहां के बड़े २ भागों में राज्य करते थे। संभव है कि मूल क्षत्रिय जाति किसी दर्जे तक इन लोगों से बनी हो। यहां के तब के

मूल निवासी लेम्यूरिअन जाति के थे; इस वर्ण की अब केवल थोड़ी सी पहाड़ी जातियां हैं । ये लोग काले रंग के थे। उन लोगों का शूद्र वर्ण मान लिया जा सकता है। उनके और टोलटेक लोगों के मध्य में एटलान्टिस की भिन्न २ उपजातियों की कई शाखाएं यहां पर आईं और व्यापार करने के लिये बस गईं। इस वर्ण के लोग पीत वर्ण के थे जैसे कि आज कल चीन देश के लोग होते हैं। कदाचित् इन्हीं से मूल वैश्य जाति बनी हो। आजकल किसी २ जीवात्माओं के पूर्व जन्मों के संबंध में हम शोध कर रहे हैं। इस कार्य के अन्तर्गत जैसे २ हम प्राचीन काल का शोध करेंगे वैसे २ हमको जातियों की उत्पत्ति और उनके रंग के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त होता जावेगा। * * * * * *

संकेत शास्त्र।

संकेत का विषय बड़ा मनोरंजक है। जो मनुष्य इन संकेतों के नियमों को थोड़ा बहुत भी समझता है उसकी समझ में वे आसानी से आजाते हैं। दृष्टांत रूप से उन संकेतों पर विचार करो जो "ज्ञान" (ज्यान) नाम की पुस्तक (Book of Dzyan) के आदि में दिये हैं। पहिले पृष्ठ में श्वेत वर्तुल या घेरा दिया हुआ है; वह निराकार (अव्यक्त) अवस्था का सूचक है। दूसरे पृष्ठ में श्वेत चक्र के मध्य में एक बिन्दु है; यह व्यक्त आदि प्रथम ईश्वर (महेश) या ईसाई धर्मानुसार पिता में स्थित मसीह का सूचक है। तीसरे पृष्ठ में

यह मध्य बिंदु रेखा के आकार में हो जाता है जिससे उस चक्र के दो तुल्य भाग हो जाते हैं इससे पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का और द्वितीय ईश्वर (विष्णु) का बोध होता है। इसे सदैव द्वैतभावयुक्त कहते हैं। चौथे पृष्ठ में इस रेखा पर एक दूसरी रेखा लंब रूप से खड़ी होकर उसे काटती है जिससे वह चक्र चार तुल्य भागों में बंट जाता है; इससे तीसरे ईश्वर (लोगस) या ब्रह्मा की निश्चेष्ट अवस्था का बोध होता है। आगे के पृष्ठ में परिधि का लोप हो जाता है और तुल्य भुजा के अथवा ग्रीस के क्रास का चिह्न रह जाता है; * उससे तीसरे लोगस (ब्रह्मा) की उस अवस्था का बोध होता है जिसमें वह सृष्टि रचना के लिये और अपने जगत् की प्रकृति में अवतीर्ण होने के लिये तैयार होता है। यही क्रास हिन्दू धर्म में स्वस्तिक कहलाता है।

इस रचना शक्ति की आगे की अवस्था कई प्रकार के संकेतों के द्वारा सूचित की जाती है। कभी २ ग्रीस के क्रास की भुजाएं बाहर की तरफ़ को चौड़ी होती जाती हैं, इस प्रकार के आकार को माल्टा का क्रास कहते हैं। एक दूसरे प्रकार का चिह्न होता है जिसमें भुजाएं ग्रीस के क्रास की भुजाओं के समान सीधी रहती हैं परन्तु हर एक भुजा के छोर से ज्वाला निकलती हुई बतलाई जाती है जिसका यह अर्थ है कि उसका भीतरी भाग प्रकाश से दीप्यमान है। इस

* ग्रीस क्रास में चारों भुजाएं समान रहती हैं और लैटिन क्रास में खड़ी भुजाएं छोटी बड़ी रहती हैं। अनु०

विचार को और भी आगे ले जाते हैं और उस क्रास को घूमते हुए चक्र के समान अपने केन्द्र के आसपास घूमता हुआ बतलाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जैसे २ क्रास घूमता है वैसे २ ज्योति शिखाएं केन्द्र की ओर जाती दिखाई देती हैं और इस प्रकार सबसे अधिक प्रचलित स्वस्तिक का चिह्न बन जाता है। यह चिह्न दुनिया के हरएक देश में और हरएक धर्म के सम्बन्ध में पाया जाता है।

ईसाई धर्म में जो मामूली लैटिन क्रास उपयोग में लाया जाता है उसका कोई इस प्रकार का अर्थ नहीं है। उसका बिलकुल भिन्न अर्थ है। वह द्वितीय (लोगस) ईश्वर और उसके प्रकृति में अवतीर्ण होने का संकेत है और उसका बहुत कुछ सम्बन्ध पुराने समय के मिसर देश की दीक्षा की क्रिया से है। ज्यान या ज्ञान ग्रन्थ (Book of Dzyan) के संकेतों का अर्थ समझने में इस एक बात से बहुत सहायता मिलती है। उस ग्रन्थ में एक प्रकार की बहुत बड़ी ओजस् शक्ति भरी है और इस कारण जिसको उसके देखने का सौभाग्य प्राप्त होता है उस पर उसका एक पन्ना हाथ में लेने से ही एक विचित्र प्रभाव पड़ता है। उसकी मानसिक दृष्टि में, उस सफे से जिस बात का संकेत होता है, उसका चित्रसा खिंच जाता है और जिन वाक्यों में उसका वर्णन होता है वह सुनाई देने लगते हैं। शब्दों के द्वारा इसका अनुभव स्पष्ट रूप से वर्णन करना बहुत कठिन है परन्तु अनुभव बड़ा विचित्र होता है।

जिस ज्यान या ज्ञान ग्रन्थका अध्ययन कर सीक्रेट डाक्ट्रिन

नाम का ग्रन्थ लिखा गया है उसे हमने स्वयं देखा और हाथ में लिया है। वह निस्सन्देह मूल ग्रन्थ नहीं है परन्तु उस मूल ग्रन्थ की वह नकल है जो कि गुप्त विद्या सम्बन्धी अजायबघर में रक्खी है। वह अजायब घर महात्मा के० एच० के अधिकार में है। मूल ग्रंथ तो शम्वाला या शम्बल देश में सिद्ध संघ के अधिष्ठाता के अधिकार में है। वास्तव में वह संसार में सब से पुराना ग्रन्थ है। कहते हैं कि उसका कुछ अंश (हम समझते हैं कि पहिले ६ पद) इस संसार की उत्पत्ति के पहिले के हैं अर्थात् किसी पूर्व की ग्रह माला से लाये गये हैं। कोई कोई तो यह मानते हैं कि उसके सब से पुराने भाग में सूर्य मण्डल की उत्पत्ति का ही वर्णन नहीं है वरन् इस प्रकार की सृष्टि रचना की विधि और आदेश भी लिखे हैं। ऊपर लिखी नकल भी अवश्य लाखों वर्ष की पुरानी होगी।

दूसरा प्रसिद्ध संकेत "पक्षिराज" का है। वह ईश्वर का अपने जगत् पर मंडराने का, जलरूप जगत् पर छा रहने का, अथवा विकास क्रम से नीची अवस्था में प्रगट होने का बोध करता है। पक्षिराज के पंखों में विश्राम करने का अर्थ इस प्रकार का ध्यान करना है कि जिसमें ध्यान करनेवाला ब्रह्म में लीन हो जावे। कहते हैं कि जो मनुष्य इस अवस्था को पहुंच जाता है वह वहां पर असंख्य वर्षों तक विश्राम करसकता है।

ओम् शब्द में भी वही भाव पाया जाता है। वह पांचवीं अर्थात् आर्य मूल जाति का पवित्र शब्द है। एटलान्टियन

मूल जाति का पवित्र शब्द "तश्रो" था। कहते हैं कि एक एक करके सब पवित्र शब्दों को, जो मूल जातियों को दिये गये हैं, मिलाने से एक बड़ा शब्द बन जाता है। यह पूरा शब्द सच्चा पवित्र या गुह्य नाम है।

पुराने एटलान्टियन धर्म में हृदय का चिन्ह बहुत प्रसिद्ध था। गोल्डिन गेट नामी शहर के बड़े मंदिर की सब से भीतरी भाग की वेदिका पर हृदय के आकार की बहुत बड़ी सोने की संदूक रक्खी रहती थी। उसके खोलने की गुप्त रीति केवल बड़े पुजारी को मालूम रहती थी। उसको संसार का हृदय कहते थे। जितनी गुप्त रहस्य क्रियाए उनको मालूम थीं उनमें सब से गुप्त रहस्यों का सूचक उसको मानते थे। उसमें वे सबसे पवित्र वस्तुएं रखते थे और उनके सब धार्मिक चिन्हों का संबंध भी उसी से रहता था। वे जानते थे कि प्रत्येक परमाणु हृदय के समान धड़कता है और समझते थे कि सूर्य में भी इस प्रकार की गति हुआ करती है और सूर्य के काले दाग दिख पड़ने के काल का संबंध उसी से है। उनके ग्रंथों में कहीं कहीं ऐसी बातें मिलती हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि वे भौतिक विद्या (विज्ञान शास्त्र) में हम लोगों से अधिक ज्ञान रखते थे। परन्तु वे उसको पदार्थ विद्या की दृष्टि से न

---

* एटलांटिस महाद्वीप आठ लाख वर्ष के पूर्व से था। तब उसमें मध्य अमेरिका, उत्तर आफ्रिका और आधा एशिया थे थे। एटलांटिस महासमुद्र तब तक धरती था। ११५०० वर्ष हुए तब एटलांटिस महासमुद्र प्रायः बन चुका था। अनु०

देख कर कवि की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ वे समझते थे कि पृथ्वी सांस लेता और चलती है। यह ठीक है कि हाल के विज्ञानशास्त्रवेत्ताओं को पता लगा है कि पृथ्वी के धरातल पर हर रोज़ नियमित रूप से परिवर्तन हुआ करता है और एक प्रकार से यही सांस लेना कहा जा सकता है।

दूसरा चिह्न कमल का है। इस से सूर्यमंडल का उसके ईश्वर के साथ का संबंध सूचित होता है। इस प्रकार की तुलना सृष्टि की कुछ यथार्थ बातों के आधार पर की गई है। सात ग्रहाधिपति वास्तव में बहुत विशाल व्यक्ति हैं तथापि वे उसके साथ २ सूर्यमंडल के ईश्वर की मूर्ति किंवा उसके शरीर के चक्र भी हैं। अब इन विशाल ग्रहाधिपतियों में से प्रत्येक में नियमित समय पर कुछ विकार या गति उत्पन्न हुआ करती है। कदाचित् किसी अत्यन्त ही ऊंचे लोक पर उसकी तुलना हृदय के धड़कने या सांस लेने वा छोड़ने से हो सकती है।

इनमें से कोई २ सामयिक अदला बदली दूसरी बदलियों की अपेक्षा जल्दी हुआ करती हैं जिससे बहुत जटिल असर पैदा होता है। देखा गया है कि किसी विशेष समय पर विश्व के इन बड़े असरों की क्रिया का जो फल हुआ करता है उसका पता ग्रहों की परस्पर गति से लगता है। प्रत्येक ग्रहाधिपति की प्रधान नाभि या किरण केन्द्र (Major focus) स्थूल सूर्य में और दूसरा छोटा केन्द्र सूर्य के शरीर के बाहर हुआ करता है।

इस छोटी नाभि या किरण केन्द्र का स्थान स्थूल ग्रह से सूचित होता है। उसका ठीक २ सम्बन्ध लंबाई चौड़ाई और

ऊंचाई के आधार से स्पष्ट रूप से नहीं समझाया जा सकता। परंतु यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक केन्द्र या नाभि का प्रभाव प्रायः सूर्यमण्डल भर में व्याप्त है जहां तक सूर्यमण्डल का असर पहुंचता है। यदि उस गोल प्रभाव विस्तार के या सूर्यमंडल के छेदन की कल्पना करें तो वह छेदनक्षेत्र (section) अंडाकृति होगा और प्रत्येक अंडाकार की एक २ प्रधान नाभि या किरण केन्द्र सूर्य में रहेगा और दूसरा स्वयं उस स्थूल ग्रह में होगा। इस ग्रह के अधिपति मान लो एक छोटे ईश्वर ही हैं *। अति सूक्ष्म प्रदीप्त प्रकृति के धीरे २ ठंडे होकर घनीभूत होने से अन्त में एक स्थूल सूर्य और उसके ग्रह बनते हैं। संभव है कि इस क्रिया में स्थूल ग्रह उन स्थानों पर बने हों जहां पर उस ठंडी होती हुई प्रकृति में इन छोटे या अप्रधान नाभिकेन्द्रों (minor foci) में भंवर या चक्र की गति रही हो। सूर्यमण्डल में ये केन्द्र बल भेजने के अप्रधान स्थान कहे जा सकते हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में नाड़ियां मस्तिष्क से निकलती हैं पर उनके छोटे २ केन्द्र शरीर में कई जगह रहते हैं वैसे ही केन्द्र सूर्य मण्डल में ये ग्रह हैं। प्रत्येक ग्रह का क्षेत्र अंडाकार होगा क्योंकि उसकी गति अंडाकार है। यदि सब ग्रहों के अंडाकार क्षेत्रों की कल्पना मन में करें तो प्रत्येक स्थूल ग्रह सूर्यमण्डल के उस विभाग में होगा जो सब ग्रहों में वर्तमान है। पर प्रत्येक

---

* इन सात छोटे ईश्वरों को पुराणों की सृष्टिरचना खण्डों में ब्रह्मा के सात पुत्रों के नाम से कहा है। अनु०

ग्रह के अंडाकार केन्द्र का कुछ भाग अलग बाहर निकला होगा। इस प्रकार इन ग्रहों के निकले हुए भागों की तुलना फूल की पंखुरियों से करना अयोग्य न होगा।†

सूर्यमंडल की तुलना कमल से करने का एक दूसरा और अधिक सुन्दर कारण है परन्तु उसके समझने के लिये अधिक विचार की आवश्यकता है। हमारे देखने में ग्रह जुदे २ गोलों के समान मालूम होते हैं, परन्तु उन सब में परस्पर एक प्रकार का संबंध है जो हमारी समझ के बाहर है। जिन्होंने चतुर्थ परिमाण (Fourth dimension) के विषय का अध्ययन किया है उनको मालूम है कि पदार्थ का विस्तार लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई के सिवाय एक और प्रकार का भी होता है जो हमको दिखाई नहीं देता। कदाचित् उन लोगों के मन में यह बात न आई होगी कि उस प्रकार का विस्तार सारे सूर्य मण्डल का भी है।

हमें इन बातों का कुछ कुछ ज्ञान इस प्रकार हो सकता है। हाथको इस प्रकार रखो जिसमें हथेली ऊपर की तरफ रहे और कटोरी का आकार बन जावे परन्तु उंगलियां अलग अलग उठी रहें। फिर उन उंगलियों के ऊपर काग़ज़ का एक टुकड़ा रखो। अब अगर उस कागज पर ऐसा जीव हो जिसको केवल लंबाई चौड़ाई का ही ज्ञान हो तो संभव नहीं कि उसको संपूर्ण हाथ का ज्ञान होगा। परन्तु जहां उंगलियों के छोर काग़ज़ को स्पर्श करते हैं वहां पर उसे छोटे छोटे चक्कर दिखेंगे। ये चक्कर उसको एक दूसरे से बिलकुल अलग

---

†ऐसी तुलना हमारी पुराणों में की गई है। अनु०

(सम्बन्धरहित) मालूम होंगे, परन्तु जिन लोगों को उंचाई अथवा गहराई का ज्ञान है वे जान सकते हैं कि प्रत्येक चक्कर नीचे की त फ़ को फैला हुआ है और इस प्रकार वे सब एक ही हाथ के भाग । ठीक सी प्रकार जिस मनुष्य को चतुर्थ परिमाण का ज्ञान है वह जान सकता है कि जो अ, लम्बाई, चौड़ाई और उंचाई के विचार से जुदे २ मालूम पड़ते हैं उन सब में सदेव एक ऐसा सम्बन्ध रहा आता है जिसे कि हम देख नहीं सकते । इस उच्च दृष्टि के हिसाब से सार गोले एक ही बड़े फूल की पखुरियों की नोकों के समान हैं। उस फूल के दमकते हुए मध्य भाग में से गर्भ केसर निकलता है जो हमको सूर्य के रूप में दिखलाई देता है ।

अग्नि ।

ऊंचे लोकों में प्रत्येक पदार्थ ऐसी अवस्था में है जिसको हम यहां पर प्रकाशमान कहते हैं, और एक विशेप लोक के परे प्रत्येक वस्तु अग्नियुक्त है। परन्तु वह अग्नि इस प्रकार की नहीं होती जैसी कि भूलोक में हुआ करती है। जिसको हम यहां पर अग्नि कहते हैं वह जलते हुए या चमकते हुए पदार्थ के आधार विना नहीं रह सकती और वह ऊंचे दर्जे के अमूर्त पदार्थ का जिसका हमको न्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता एक प्रकार का आभास या प्रतिविम्ब है। एक ऐसी अग्नि का विचार करने का प्रयत्न करो जो जलती नहीं है परन्तु जल के समान द्रव रूप में है। यह बात प्रथम पारसी धर्म के आचार्य

मूल जोरोस्टर के अनुयायियों को मालूम थी। क्योंकि वे उस अग्नि का उपयोग करते थे जो उनकी वेदी में विना ईंधन के जलती थी। वह एक पवित्र अग्नि थी जो ईश्वरीय जीवन का संकेत करती थी।

ईश्वर को प्राप्त होने का एक मार्ग अग्नि द्वारा था। पुराने पारसी लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे और अपनी इतनी उन्नति करते थे कि अग्नि से एकत्व प्राप्त करते थे जिसमें उसके द्वारा उन्हें ईश्वर की प्राप्ति हो जाती थी। यह कार्य एक प्रकार के देवों की सहायता के बिना साध्य नहीं हो सकता। परन्तु वर्तमान समय में हम लोगों में जड़ता की इतनी अधिकता है कि इस प्रकार के कार्य करने की योग्यता बहुत कम लोगों में है। प्रथम ज़ोरोस्टर के बहुत से ऐसे अनुयायी थे जो इस मार्ग को ग्रहण कर सके। वर्तमान समय में यदि हम उसका प्रयत्न करें तो कदाचित् हमारे नीचे के कोष नष्ट हो जावेंगे। परन्तु भविष्य में नई जातियों में और दूसरे ग्रहों में जन्म लेने पर हम उस कार्य को फिर साध सकेंगे। यह बात बहुत विचित्र, अमानुषिक और समझ के बाहर मालूम होती है क्योंकि उसका ऐसी बातों से सम्बन्ध है जो भूलोक में नहीं होतीं।

——*——

सर्ग ३

व्यावहारिक बुद्धि ।

गुप्त विद्या सीखनेवाले को अपनी सामान्य बुद्धि या व्यवहार ज्ञान (common sense) का उपयोग कभी न भूलना चाहिये। उसके सामने बहुत से नये विचार और आश्चर्यकारक बातें आवेंगी। यदि वह उनकी विचित्रता देखकर विचलित हो जायगा तो उसको विशेष ज्ञान प्राप्त होने से लाभ के बदले हानि होगी। बहुतसी नई २ बातों के ज्ञान की प्राप्ति, और उन नई बातों के अनुकूल विचार पूर्वक और व्यवहार ज्ञान की सहायता से अपना जीवन बनाना, यही गुप्त विद्या का उद्देश्य है। सम्पूर्ण गुप्त विद्या, जिसके विषय हमें कुछ भी मालूम है, व्यवहार ज्ञान की अति उच्च या परमावस्था है।

भ्रातृत्व ।

मनुष्य मात्र का परस्पर भ्रातृत्व सृष्टि का एक नियम है। इसको केवल वे लोग नहीं मानते जो उसको समझते नहीं हैं। स्वयं प्रकृति उनके विपरीत विश्वास को दूर करेगी।

निस्सन्देह भ्रातृत्व से समानता का बोध नहीं हो सकता क्योंकि भाइयों में भी बल, बुद्धि, योग्यतादि का अन्तर हुआ करता है। भ्रातृत्व से एक ऐसी समाज का बोध होता है जिसके व्यक्तियों का हित एक दूसरे से विलग न होकर समान हुआ करता है। यदि एक कुटुम्ब धनाढ्य है तो उसका लाभ

उस कुटुम्ब के सभी लोगों को पहुंचता है। इसके विपरीत यदि कोई कुटुम्ब निर्धन हो तो उस कुटुम्ब के सभी लोगों को गरीबी का दुःख उठाना पड़ता है। इस प्रकार एक समाज ऐसी स्थापित हो जाती है जिसमें व्यक्तिगत हित अलग अलग नहीं होता, बरन् सब का हित समान होता है। परन्तु भाइयों का व्यक्तिगत हित कई वर्षों तक अवश्य ही बिलकुल अलग अलग हुआ करता है।

तब इस बात की आशा नहीं कर सकते कि भाई भाई होने के कारण लोगों के भाव एक से हो जावें और उनको एक ही स पदार्थों में रुचि हो। यदि ऐसा होना संभव भी होता तो भी वह अभीष्ट न होता क्योंकि अवस्था के अनु-सार उनके कर्तव्य कार्य भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। मनुष्य जाति भरके विकास में सहायता पहुँचाने के लिये यह एक मुख्य बात है कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरीय नियम से, वह चाहे जिस अवस्था में हो उसी में रहकर, अपना कर्तव्य कर्म करने में उत्सुक रहे। हमारे इस कहने का यह अर्थ लेश मात्र भी नहीं है कि मनुष्य कर्मानुसार जिस अवस्था में जन्म लेवे उसी अवस्था में रहा आवे। यदि वह वास्तव में और किसी को बाधा पहुंचाये बिना ऐसा कर्म बना सकता है जिसमें वह अपनी वर्तमान दशा से ऊँची दशा में पहुँच सके तो ऐसा करने में उसे कोई अटकाव नहीं है। परन्तु वह चाहे जिस श्रेणी में हो उसको उस श्रेणी का कर्तव्य करना ही चाहिये। बालक की वृद्धि धीरे धीरे होती है परन्तु उसका कर्तव्य उसकी उमर

के अनुकूल रहता है न कि उसके बड़े भाई के कर्तव्य के समान। पृथक् पृथक् उमर वालों के लिये पृथक् पृथक् कर्तव्य कर्म हुआ करते हैं। छोटी उमरवालों का धर्म विद्याभ्यास और सेवा करना है; बड़ों का धर्म मार्ग बताना और रक्षा करना है। परन्तु सब पर प्रेम करना और सबको सहायता पहुँचाना और सब मनुष्यों को अपने कुटुम्बी समझना मनुष्य मात्र का धर्म है।

थियासोफ़िकल समाज में भ्रातृत्व वास्तविक और सत्य होना चाहिये। इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम आपस का घनिष्ट संबंध जानें और उसके अनुसार बर्ताव करें, हमारे मन में वास्तविक एकता का भाव उत्पन्न होवे और हम परस्पर प्रेम रक्खें। यह तभी हो सकेगा जब कि मेम्बर लोग अपने व्यक्तिगत भाव को भूल कर दूसरों के हित पर ही ध्यान रक्खें। इस समाज के इकट्ठे भावों से बुद्धिलोक में उस का एक शरीर बन रहा है। यह शरीर एक ऐसी नाली रूप होगा कि उसके द्वारा महात्मा लोग कार्य कर सकेंगे। इस नाली की पूर्णता सच्चे मन से और दृढ़ता के साथ काम करनेवाले मेम्बरों के भाव पर अवलम्बित है। अभी तक यह निरी अपूर्ण दशा में है क्योंकि प्रत्येक मेम्बर अपने व्यक्तिगत हित का ही ज्यादा विचार रखता है और सम्पूर्ण जगत् की भलाई पर बहुत ही थोड़ा। हम एक बड़े कार्यक्रम में केवल छोटे भाग के समान अथवा किसी यंत्र के एक चक्के के समान हैं। हमारा काम है कि हम वास्तव में अपने छोटे से निर्दिष्ट कार्य के योग्य

होवें। यदि हम इतना काम करें तो चाहे हम इस संसार के नाटक में मुख्य पात्र होने के योग्य न भी होवें तोभी जो कुछ थोड़ा बहुत हमसे बन पड़ेगा वह अच्छा और चिरस्थायी होगा और बड़े कार्य में अपने स्थान की पूर्ति भली भांति करेगा।

तुम सबको विदित है कि ७०० वर्ष के बाद हमारे दो महात्मा छठवीं मूलजाति की नीव डालेंगे और वे अभी से ऐसे लोगों की खोज में हैं जो उन्हें इस काम में सहायता देने के योग्य होंगे। इस उपजाति का उत्तर अमेरिका में बनना शुरू हो चुका है। इस कार्य की तैयारी के चिन्ह दिखाई देने लगे हैं। अनेक जातियां मिलकर एक जाति बन रही है; उस में हमें भी सहायता देना है। हम लोग सब मानते हैं कि बचपन में बालक को अच्छे २ असरों के मध्य में रखना बहुत लाभकारी होता है। यही नियम हर जाति के प्रारम्भ काल के लिये भी लागू है। यदि प्रारम्भ में हम इस जाति को ठीक रस्ते से चला सकें तो बहुत लाभ होगा। हालांकि हम अमेरिका से इतनी दूरी पर हैं तो भी यदि हम चाहें तो ऐसे नाजुक वक्त पर बहुत कुछ मदद दे सकते हैं।

इस कार्य में केवल अच्छे लोगों से ही मदद नहीं ली जाती; वरन् सिद्ध संघ जो इस आवश्यक कार्य को पीछे से जोर दे रहा है, हर प्रकार के बलों का उपयोग करता है; यहां तक कि मनुष्यों की स्वार्थ-परायणता और त्रुटियों तक का उपयोग किया जाता है। साउदे कवि ने कहा है कि दुरात्मा भी अन-जान में स्वर्ग की पवित्र इच्छा के अनुकूल कार्य करते हैं और

सभी बातें मिलकर ईश्वर के भक्तों का भला करती हैं। यह बात मनुष्य के व्यक्तिगत कर्म के विषय में कही गई थी परन्तु वह विशाल कार्यक्रम को भी लागू होती है। यथा ईसाई धर्म का दुराग्रह यद्यपि बुरा है तथापि बिलकुल निरर्थक नहीं गया क्योंकि उसके द्वारा मनुष्यों में विश्वास बढ़ा है। पक्षपात के बिना मूर्ख लोगों का विश्वास दृढ़ नहीं हो सकता। व्यापार सम्बन्धी बातों में मतलबी होना भी तो बुरा है तथापि उसमें एक ऐसी शक्ति है जिसका महात्मा लोग अच्छा उपयोग कर सकते हैं। क्योंकि उसके द्वारा इच्छा शक्ति और एकाग्रता का विकास होता है और ये गुण ऐसे हैं कि उनसे आगे के जीवन में बहुत बड़ा लाभ होने की संभावना है।

हममें से प्रत्येक को इस बड़े कार्य में सहायता देने और भलाई के साथ सहानुभूति बतलाने का मौका है। अगर हम इस मौके को हाथ से जाने देवें तो कोई दूसरा, और दूसरा नहीं तो तीसरा, उसको अपने हाथ में लेगा और चाहे जो हो, कार्य अवश्य होगा। सब देशों में आपस में सहानुभूति का भाव बढ़ा कर हम इस कार्य में सहायता दे सकते हैं।

हम जानते हैं कि जिनको यह मौका मिला था उनमें से कुछ लोग तो उसे छोड़ चुके हैं। परन्तु यह एक विशेष कारण है जिससे हमें वह कार्य विशेष दृढ़ता से करना चाहिये जिसमें हम अपना और उनका दोनों का कार्य करके त्रुटि पूरी करदें। हमारे मनमें पल भर के लिये भी यह शंका न आनी चाहिये कि कुछ लोगों के काम से अलग हो जाने से उस काम में कोई

हानि पहुंचेगी। हम इस बात का अफ़सोस किये विना नहीं रह सकते कि हमारे बिचारे भाइयों ने हाथ आये हुए मौके को जाने दिया और अज्ञानता और अविचार के कारण अपने हाथ से अपना अहित कर लिया। परन्तु स्मरण रक्खो कि उनकी यह मूर्खता क्षणिक है। यदि उनके वर्तमान जीवन में नहीं तो किसी आगे के जीवन में ऐसा समय आवेगा जब कि वे सत्य को जान सकेंगे। अभी उनकी सहायता के विना भी इस विशाल कार्य की आंतरिक अवस्था अच्छी है और वह होता जा रहा है।

संसार को सहायता देना।

मुमुक्षु के मार्ग में प्रवेश करने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें सब से पहिला गुण मन की एकाग्रता है। इस गुण के कारण लोग सांसारिक कार्यों में भी सिद्धि लाभ करते हैं। गुप्त ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के जीवन में बहुत सा हेर फेर हो जाता है। परन्तु एकाग्रता से बढ़कर और किसी बात में इतना विशेष हेर फेर नहीं होता। उसके मन में पूर्ण एकाग्रता आजाती है। उसका ध्यान सदैव इस बात पर रहता है कि मैं अपना रोज का नियमित कार्य अच्छी तरह से करूं। उसको जीवन का मुख्य स्वर मिल जाता है और वह उसके कानों में सदैव गूंजता रहता है और वह उसे क्षण भर भी नहीं भूलता। यह मुख्य स्वर दूसरों की सहायता करते रहने का है। इसका यह कारण है कि वह ईश्वर की

व्यवस्था को जान लेता है और उसके पूरे होने में सहायक होने का प्रयत्न करता है।

इसके लिये कार्य करने के कई द्वार हैं। वास्तविक सहायता दे सकने के लिये मनुष्य को सहायता देने के योग्य बनना चाहिये। इसके लिये उसको अपना सुधार बहुत बारीकी से करना चाहिये; अपने दुर्गुणों को नष्ट करके सद्गुणों को दृढ़ करना चाहिये। इसके सिवाय उसको सहायता देने के मौकों को सदैव ताकते रहना चाहिये।

थियोसोफिकल समाज के मेम्बरों के लिये संसार को सहायता देने की एक विशेष रीति तैयार है। वह यह है कि उस समाज के सिद्धान्तों को लोगों में प्रगट करना। हमें कोई अधिकार नहीं है और न हमारी इच्छा ही है कि हम दूसरों को अपने विचार ग्रहण करने को बाध्य करें। परन्तु हमारा हक और धर्म है कि लोगों को जीवन संबंधी प्रश्नों का यथार्थ मतलब समझने का मौका देवें। अमृत देने पर कोई उसे पिये या न पिये इससे हमें कुछ सम्बन्ध नहीं; हमको सिर्फ इतना ख्याल रखना चाहिये कि पानी का अभाव समझ कर तो कोई प्यास से नहीं मरता।

तब हमारा धर्म है कि सत्य का प्रचार करें और इस काम में कोई बाधा न आने देवें। यह कार्य हमारी समाज को साधने का है और हमें स्मरण रखना चाहिये कि उसका करना हम में से प्रत्येक का कर्तव्य है। हमारे मन में यह विचार पूर्णरूप से समाजाना चाहिये। हमें सदैव उस पर

विचार करते रहना चाहिये और उसको कार्य में लाने के लिये उपाय सोचते रहना चाहिये और जब कोई मौका मिले तब उसको हाथ से नहीं जाने देना चाहिये।

छिद्रान्वेषण।

यदि हम गुप्त विद्या में कुछ उन्नति करना चाहते हैं तो हमें अपने ही काम पर ध्यान देना और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करना सीखना चाहिये। दूसरे लोग जिन कारणों से और जिन तरीकों पर काम करते हैं उनको हम नहीं समझते। उनके कार्य की जांच उनके गुरुदेव करते हैं। इसके सिवाय हमको अपना खुद का काम करने को है और हमें कभी उससे विचलित न होना चाहिये। उदारता और सहिष्णुता सीखना और दूसरों के दोष ढूंढ़ने की कुत्सित इच्छा को रोकना हमारे लिये परमावश्यक है।

छिद्रान्वेषण की रुचि वास्तव में बुरी है और आजकल लोगों में बहुत प्रबल है।

क्या कारण है कि संसार में इस समय पर छिद्रान्वेषण का प्रभाव इतना व्याप्त और प्रबल हो रहा है? बहुत से अन्य दुर्गुणों के समान यह भी एक अच्छे और आवश्यक गुण की आधिक्यता का फल है। विकास क्रम में हम पांचवीं मूल जाति की पांचवीं उपजाति में पहुंचे हैं। इससे हमारा यह अर्थ है कि उस जाति का विकास हाल में ही हुआ है और

आजकल उसका प्रभाव संसार में प्रबल हो रहा है और उसका असर उन लोगों पर भी पड़ रहा है जो उस जाति के नहीं हैं।

अब हर एक जाति को अलग अलग और विशेष बातें सीखने को रहती हैं और विशेष गुण संपादन करने पड़ते हैं। पंचम जाति का गुण मनस् अर्थात् विवेक है जिसके द्वारा पदार्थों के गुण दोष अथवा परस्पर अंतर का ज्ञान होता है। इस गुण के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर लोग पदार्थों को अच्छी तरह जानने और उनमें से सब से अच्छा कौन है यह मालूम करने के लिये उनके परस्पर अन्तर पर शांत भाव से विचार करने लगेंगे। परन्तु वर्तमान अवस्था में अधूरा विकास हुआ है इसलिये बहुधा मनुष्य दूसरों की भिन्नताओं को अपने विचार से देखते हैं। इसमें उनका यह उद्देश्य नहीं रहता कि उनके अन्तर्गत भाव को जानें बरन् यह उद्देश्य रहता है कि उनका विरोध करें, उन्हें सतावें। अज्ञानी और अविकसित मनुष्य का ऐसा विचार होता है। क्योंकि वह असहिष्णुता और दर्प से इतना भरा रहता है कि उसको निश्चय रहता है कि मेरा विचार ठीक है (कदाचित् यह एक दर्जे तक ठीक हो) और इसलिये बाकी सब के विचार बिलकुल गलत होना ही चाहिये। परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

हमें भी छिद्रान्वेषण की शक्ति को विकसित करनी चाहिये; परन्तु हमें अपने ही ऐब ढूंढ़ना चाहिये न कि दूसरों के।

प्रत्येक बात के सदैव दो पक्ष हुआ करते हैं और बहुधा दो से अधिक भी होते हैं। हम चाहे जिस पक्ष को ठीक समझें

परन्तु हमको ध्यान रखना चाहिये कि हमारे समान बुद्धिवाला कोई दूसरा मनुष्य दूसरे पक्ष को पुष्ट कर सकता है और इस-लिये उसका निर्णय हमारे निर्णय से भिन्न हो सकता है, और इस प्रकार के निर्णय में वह हमारे ही समान नेकनियत, बुद्धि-मान और ईमानदार होवे।

यदि किसी मनुष्य का निर्णय हमारे निर्णय से भिन्न होवे तो हमको ऐसा प्रगट करने की आवश्यकता नहीं है कि हम उससे सहमत हैं परन्तु हमें उसकी नेकनियती के लिये उसकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये। आज कल एक सबसे बुरी बात यह है कि लोग बुराई पर बहुत जल्दी विश्वास कर लेते हैं। उनकी एक आदत सी पड़ गई है कि वे हर एक बात का बुरे से बुरा अर्थ लेने का प्रयत्न करते हैं, और जब इस प्रकार का भाव उन लोगों के प्रति होता है जिनने हमें सहायता दी है या जिनके द्वारा हमें ज्ञान अथवा प्रेरणा मिली है तब निस्सन्देह वह बहुत ही अधम हो जाता है। श्री गुरुदेव के कथन का स्मरण करो; उनका कहना है कि हम में कृतघ्नता का दोष नहीं होता। जो लोग हमसे अधिक ज्ञानवान् हैं उनकी बात पर बिना समझे बूझे कटाक्ष करना गलत है। हरएक बातकी जांच स्थिरता पूर्वक इस दृष्टि से करनी चाहिये कि भविष्यकाल में उसका क्या परिणाम होगा। हमको यह नियम कर लेना चाहिये कि हमारा लक्ष्य दूसरों के सद्गुणों की ओर रहे; हम अपना काम करें और दूसरों के कामों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।

दुराग्रह या पक्षपात ।

इस बात की खबरदारी रक्खो कि तुम्हारे मन में सन्देह न उत्पन्न होने पावे; सन्देह के कारण किसी बात का सच्चा स्वरूप नहीं दिखने पाता, हमने मित्रों में सन्देह के कारण वैमनस्य होते देखा है और यह भी हमारे लक्ष्य में आया है कि ज़रा से सन्देह से बहुत बड़ा बिगाड़ हो जाता है। प्रत्येक साधारण शब्द का बुरा अर्थ लिया जाता है और उसका उपयोग किसी बुरे या अनुचित उद्देश्य के कारण हुआ मान लिया जाता है, हालांकि बोलनेवाले को इस प्रकार के सन्देह की कुछ खबर ही नहीं रहती। जब पुस्तकों या धर्म के विषय में मत-भेद होता है तब भी यही हाल होता है। एक के पक्ष में और दूसरे के विरुद्ध जितना कुछ मिल सकता है उस पर विचार करते करते थोड़ासा मतभेद हो जाता है और अन्त में उसका यह परिणाम होता है कि बिलकुल उलटी राय हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्यों के भिन्न भिन्न वर्गों के विषय में भी दुराग्रह देखने में आता है हालांकि गोरे चमड़ेवाले किसी काल में गेहुए रङ्ग के रहे होंगे, और जो अब गेहुएं रङ्ग के हैं उनका चमड़ा गोरा रहा होगा और एक वर्ग के रस्म दूसरे वर्ग के रस्म रहे होंगे या आगे रहेंगे। दुराग्रह का त्याग ही भ्रातृत्व का अर्थ है। पुनर्जन्म के ज्ञान की सहायता से हमारे संकीर्ण और अनुदार भाव दूर हो जाना चाहिये।

जिन लोगों को हम नहीं चाहते उनके कार्यों में बुरे उद्देश्य

मान लेना और उनका बुरा अर्थ ढूंढ़ लेना, सदैव बहुत सुगम होता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति उन्नति के मार्ग में बहुत बाधक होती है। हमें अहंभाव छोड़ देना चाहिये क्योंकि तबही हम दूसरों का यथार्थ रूप जान सकेंगे। दुराग्रह मनोमयकोष में मस्से के समान होता है और वास्तव में जब मनुष्य उस कोष के उस विशेष भाग से देखने का प्रयत्न करता है तब वह स्पष्ट रूप से नहीं देख सकता। वास्तव में वह मनोमयकोष में एक ऐसा स्थान है जहां के ज्ञानतन्तु निकम्मे हो गए हैं और इसलिये उस भाग की चेतनाशक्ति मारी गई है। वहां पर उस कोष के द्रव्य का संचार न होने से वह भाग सड़ गया है। उसका उपाय यही है कि अधिक ज्ञान प्राप्त किया जावे और मनोमयकोष के द्रव्य में गति उत्पन्न की जावे जिससे उसमें संचालन होता रहे। तभी एक २ करके सब दुराग्रह बह-कर अलग हो जांयगे या घुल जांयगे।

आर्यसंघ ने "वायस आफ़ दि साइलेन्स" नामी पुस्तक में कहा है कि मन ही सत्य को ढांक लेता है। यह दुराग्रह का बुरा फल है। आर्यसंघ के कथन का यह अभिप्राय है कि हम पदार्थ का मूल रूप नहीं देख सकते। हम अपने मन में जैसी कल्पना करते हैं उसी के अनुसार हमें उस पदार्थ का रूप दिखता है और अवश्य ही हमारी कल्पना का रंग प्रत्येक पदार्थ पर चढ़ जाता है। देखो जब अलग २ विचारवाले दो मनुष्य एकही बनाव देखते हैं और वास्तविक घटना के विषय में उनमें कोई मतभेद नहीं होता तब भी दोनों का

वर्णन एक दूसरे से विलकुल भिन्न प्रकार का होता है। प्रत्येक साधारण मनुष्य का ठीक ऐसा ही हाल सदैव बना रहता है और हम नहीं जानते कि हम पदार्थों के रूपों को कितनी बुरी तरह से अदल बदल कर डालते हैं।

थियासोफ़िकल समाज के जिज्ञासु का धर्म है कि वह पदार्थों के असली रूप देखना सीखे। इसके लिये आत्म-निग्रह, चैतन्यता और कठिन परिश्रम की आवश्यकता है।

स्मरण रक्खो कि मनुष्य चाहे जितना अज्ञानी और हठी क्यों न होवे परन्तु यदि वह बुराई को छोड़ भलाई की ओर आना चाहता है तो उसको मौका अवश्य मिलेगा। महात्मा लोग जिस किसी मनुष्य में अच्छापन देखते हैं उसको ग्रहण कर उसका उपयोग करते हैं; चाहे उस मनुष्य में बहुतसी बुराई क्यों न हो। वे इस बल को जिस मनुष्य से लेकर उपयोग करते हैं उसको बहुत सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ वे लोग धर्मसम्बन्धी उन्मत्तता के वश होकर हत्या करने-वाले मनुष्य की भी भक्ति का उपयोग करेंगे और इस प्रकार वे उसको कुछ अच्छा काम करने का मौका देकर उसकी सहायता करेंगे।

हमें भी उन महात्माओं का अनुकरण करना चाहिये। हमें हर एक पदार्थ के और हर एक मनुष्य के अच्छेपन को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी में भी बुराई को मत खोजो और न उसे बढ़ाव परन्तु भलाई को खोजकर उसको दृढ़ करो। तुम अपनाही काम यथाशक्ति उत्तम रीति से करो और दूसरे

के काम की अथवा वह उसे किस प्रकार करता है, इस बात की चिन्ता मत करो। यदि दूसरे लोग तुम्हारे मार्ग में अड़चनें भी लावें तो उनको प्यार करो और चिंता मत करो। वे सब तुम्हारे कर्म के फल हैं और अन्त में इन बाह्य बातों से कोई नफ़ा नुकसान नहीं होता। कभी यह सोचने की भूल मत करो कि दूसरे लोग तुम्हारे अच्छे उद्देशों को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे सब मनुष्य बहुत कुछ तुम्हारे समान ही हैं। इसपर विचार करो कि क्या तुम जान बूझकर ऐसा बुरा कार्य करोगे?

कौतुक या भेद लेना।

तुम अपने कार्य में इतने मग्न रहो कि तुम्हें दूसरों का दोष निकालने के लिये अथवा उनके कार्यों का हाल ढूँढ निकालने के लिये अवकाश न मिले। यदि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने ही कार्य में ध्यान देवे तो यह जगत् अत्यन्त ही सुखी हो जायगा।

दूसरों के विषय के इस कुतूहल से अर्थात् उनका हाल ढूंड़ निकालने की इच्छा से बहुत बुराई उत्पन्न होती है और यह कहना पूर्ण सत्य है कि इस प्रकार के मनुष्य को एक बीमारी है। इसका यह कुतूहल दूसरों को सहायता पहुंचाने की इच्छा से नहीं है। वह किसी विषय में जिस का उस से कोई संबंध नहीं है केवल अपनी कौतुक भावना को सन्तुष्ट करना चाहता है यह उसके रोग का लक्षण है। दूसरा लक्षण

यह है कि जो कुछ खबरें इसने इतनी बुरी रीति से प्राप्त की हैं उनको वह अपने मन में नहीं रख सकता पर अपने सरीखे दूसरे अनेक मूर्ख और बुरे मनुष्यों को निरन्तर सुनाता रहता है। यह चुगलखोरी निःसन्देह अति बुरी है और पृथ्वी की अति दुष्ट वस्तुओं में की एक है। ऐसी सौ में से निन्न्या-नवे बातें तो बिलकुल झूठी रहती हैं पर उनसे बहुत बड़ा नुकसान होता है।

ऐसी बातों से दूसरों की ख्याति में जो नुकसान होता है वह तो इस बुराई का सब से छोटा भाग है। दंडी और उसके दोस्त किसी बुराई का जो उनकी समझ में किसी मनुष्य में है, विचार रूप बनाकर, उस विचार रूप को उस मनुष्य की ओर निरन्तर भेजते रहते हैं। इसका यह फल होता है कि यदि उस मनुष्य में किसी भी प्रकार की बुराई हो जिसपर उनके विचारों का असर हो सके तो उसमें उनके विचारोंवाली बुराई न रहते भी जाग उठती है। यदि सौ में से किसी एक मामले में उनका द्वेषभरा कथन कुछ सत्य भी हुआ तो यह बुराई उनके विचारों से बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार ये लोग दूसरों में बुराई उत्पन्न करके और दूसरों को पाप में डाल कर अपने लिये बहुत बुरा कर्म बनाते हैं। थियासोफिस्ट लोगों को ध्यानपूर्वक इन बुराइयों से बचना चाहिये क्योंकि उनमें से बहुत से अपनी आत्मिक शक्तियों का विकास करने का किसी प्रकार का प्रयत्न करते हैं और यदि ये अपनी विकसित शक्तियों को दूसरों के भेद ढूंढ़ निकालने

में अथवा उनकी ओर बुरे विचार भेजने में लगावेंगे तो उनका कर्म बड़ा भयंकर होगा।

जबतक तुमको ठीक ठीक मालूम नहीं है तबतक तुम मत बोलो, और तब भी मत बोलो जब तुम्हें यह खातिरी नहीं है कि तुम्हारे बोलने से कुछ न कुछ स्पष्ट लाभ होगा। बोलने के पूर्व अपने मनमें यह विचार करलो कि जो मैं बोलनेवाला हूँ वह क्या सत्य है, क्या अनुद्वेगकारी और प्रिय और हितकारी है। जब तक इन तीन प्रश्नों का उत्तर "हां" में न हो, तुम्हारा धर्म चुप रहने का है। मुझे यह अच्छी रीति से मालूम है कि इस नियम को पूर्ण रीति से पालन करने से पृथ्वी का वार्त्तालाप सैकड़ा पीछे निन्यानवे भाग कम हो जायगा। पर यह परम उपकार होगा और इससे जगत् की उन्नति विशेष वेग से होगी।

सब को पूर्णरीति से समझने का अर्थ सब दोषों को क्षमा करने का, सब को प्रेम करने का है। प्रत्येक मनुष्य का दृष्टि-केन्द्र न्यारा है और जो मार्ग एक मनुष्य के लिये अति सीधा है वह दूसरे के लिये भी उत्तम हो ऐसा कुछ आवश्यक नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण अधिकार है कि अपना विकास अपनी बुद्धि के अनुसार चलावे और उसके विषय में जो चाहे सो करे; हां, उसके काय से किसी दूसरे को त्रास या अड़चन न पहुँचना चाहिये। हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम प्रत्येक की भूल सुधारें और उसे ठीक करें पर हमें यह देखना चाहिये कि दूसरों के सम्बन्ध में हमारी ओर की प्रत्येक बात योग्य

स्थिति में हैं। दूसरे को हमारे मार्ग में जबरन खींच लाने का प्रयत्न करने के पूर्व हमें उसका मार्ग ध्यानपूर्वक जांचना विशेष अच्छा होगा क्योंकि उसके लिये वह मार्ग कदापि उत्तम हो। हमको यथाशक्ति दूसरों की सहायता करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये पर दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप कभी न करना चाहिये।

अपने को जानो।

पुराने ग्रीस में एक कहावत थी कि "अपने को जान लेव" यह अच्छी सलाह थी। अपने निज का ज्ञान प्रत्येक जिज्ञासु के लिये अति आवश्यक है। पर इसमें भी सावधानता चाहिये कि हम अपनी आवश्यक जांच करते समय कहीं दूषित प्रकार की आत्मपरीक्षा न करने लगें। बहुत से लोग इस बात की चिंता निरन्तर किया करते हैं कि कहीं अनजान में हम पीछे तो नहीं हटते। यदि वे विकास की विधि को थोड़ा विशेष समझते तो उनको ज्ञात हो जाता कि जब सब प्रवाह आगे बढ़ रहा है तो कोई पीछे नहीं हट सकता।

जब कोई जलधारा ढालू जमीन में नीचे की ओर वेग से बहती है तब चटानों के पीछे छोटे २ भँवर पड़ते हैं अथवा कदाचित् कुछ पानी गोल परिक्रमा सी करता है। इस कारण एक क्षण के लिये कुछ पानी पीछे हटतासा मालूम पड़ता है। पर सारा पानी भँवर सहित आगे बढ़ रहा है और जो पानी पीछे लौटतासा दिखता है वह भी

बाकी की धारा के साथ आगे दौड़ रहा है। जो लोग अपने विकास में कुछ सहायता नहीं करते और जो वस्तु जैसी होती है वैसी होने देते हैं, वे भी उस सब काल में धीरे २ विकास करते जाते हैं। क्योंकि ईश्वर का प्रचंड वल उनको निरन्तर आगे की ओर खींचता रहता है। पर ये इतने धीरे २ आगे बढ़ते हैं कि एक कदम भी आगे बढ़ने के लिये इन को लाखों वर्ष तक जन्म लेकर, दुःख भोगना और बेकाम पड़े रहना पड़ेगा।

यह बड़ी सरल और चतुर रीति से साधा जाता है। मनुष्य में जो बुराइयां हैं वे सब अपने खंडों की नीची प्रकृतियों के कंप हैं। उदाहरणार्थ एस्ट्रल या लिंगशरीर में स्वार्थ, क्रोध, घृणा, ईर्षा, कामवृत्ति और इस प्रकार के दूसरे गुण भुवर्लोक की नीचे अन्तर्खंडों की प्रकृतियों के कंपों द्वारा प्रगट होते हैं और प्रेम, भक्ति, सहानुभूति और दूसरे ऐसे मनोभाव केवल ऊंचे तीन अन्तर्खंडों की प्रकृतियों में प्रगट होते हैं। इसके दो विचित्र परिणाम होते हैं। भुवर्लोक (astral plane) के प्रत्येक अन्त-खंड का खास संबंध स्वर्गलोक के उसी अन्तर्खंड से रहता है अर्थात् भुवर्लोक के नीचे के चार अन्तर्खंडों का संबंध हमारे मनोमयदेह * (mental body) स्थित चार प्रकार की प्रकृतियों से है और भुवर्लोक के ऊंचे तीन अन्तर्खंडों का संबंध कारण शरीर (causal body) से रहता है।

---

* वेदान्त के मनोमय कोश में एस्ट्रल और स्वर्गदेह दोनों शामिल हैं. अनु०

इससे ज्ञात हो जायगा कि कारण शरीर में केवल ऊँचे ही गुणों का समावेश हो सकता है क्योंकि नीचे दुर्गुणों के कम्पों का असर कारण शरीर की प्रकृति पर नहीं पड़ सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य में जो सद्गुण आवे उसका असर सदैव के लिये कारण शरीर के परिवर्तन द्वारा बना रहता है। पर जो कुछ बुराई वह सोचे या करे उसका असर उसके जीवात्मा पर तो पड़ नहीं सकता पर उसके मनोमयकोश (mental body) में क्षोभ और अड़चन उत्पन्न कर सकता है। यह मनोमयकोश हर जन्म के लिये नया बनता है। हां इस बुराई का फल भुवर्लोक और स्वर्लोक की प्रकृतियोंके जो अक्षय परमाणु मनुष्यदेह में रहते हैं उनमें संग्रह रहता है। इस-लिये उस मनुष्य को इन बुराइयों का सामना फिर फिर कर हर नये जन्म में करना पड़ता है। पर यह बात बुराई के जीवात्मा में प्रवेश होकर उसका भाग बन जाने की अपेक्षा बिलकुल दूसरी वस्तु है।

दूसरी अद्भुत बात यह है कि बुराई की ओर कुछ बल भेजने से जितना फल होता है उससे बहुत ही अधिक फल उतना ही बल भलाई की ओर भेजने से होता है। यदि कोई मनुष्य किसी दुर्गुण में कुछ बल भेजे तो उसे भुवर्लोक की नीची और भारी प्रकृति में असर पैदा करना पड़ेगा। स्थूल प्रकृति से तो सब भुवर्लोक की प्रकृति अति सूक्ष्म है पर अपने ऊंचे अन्त-खण्डों की प्रकृति की अपेक्षा यह नीची भुवर्लोक की प्रकृति

ऐसी जड़ है जैसे इस स्थूल लोक में अति सूक्ष्म ईथर * की अपेक्षा शीशा जड़ है।

इसलिये यदि मनुष्य उतनाही बल भलाई की ओर खर्चे तो उस बल को इन ऊंचे अन्तर्खंडों की बारीक प्रकृति में कार्य करना पड़ेगा और उससे निदान सौगुना अधिक कार्य होगा। यदि बिलकुल नीचे और सबसे ऊंचे अन्तर्खंडों की तुलना की जाय तो कदापि यह असर एक हज़ार गुने से भी अधिक होगा। इन बारीक और स्थूल असरों के सिवाय यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ईश्वर अपने अनिवार्य प्रचंड बल से सारे जगत् को निरन्तर आगे और ऊंचे खींच रहा है। इस युगयुगकी उन्नति का क्रम हमको कितना ही मन्द क्यों न मालूम पड़े पर इसको हम अपने विचार से बाहर नहीं कर सकते। क्योंकि इसका यह फल होता है कि जो मनुष्य अपनी भलाई और बुराई दोनों बराबर रखता है वह ठीक अपने पूर्व के स्थान को नये जन्म में नहीं प्राप्त होता, पर वैसे ही सापेक्ष स्थान को प्राप्त होता है। इसलिये वह भी कुछ थोड़ी उन्नति करता है और उसने अपने लिये जो कुछ कमाई किई थी उसकी अपेक्षा वह थोड़े अधिक ऊंचे स्थान को पहुँचता है।

इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यदि कोई प्रवाह के विरुद्ध पीछे हटने की मूर्खता भरी इच्छा करे तो उसे बुराई को प्राप्त करने के लिये कठिन और खास प्रयत्न करना पड़ेगा। अनजान

*हवा से भी पतला अदृश्य अस्पृश्य पदार्थ। अनु०

में पीछे हटने का कोई डर नहीं है। ईसाई धर्म में जो शैतान का विश्वास है उस विश्वास का फल ऐसी शङ्का है। इस धर्म में शैतान को ईश्वर से इतना अधिक बलवान् बताया है कि प्रत्येक वस्तु शैतान की सहायता करती है। वास्तव में सत्य इसके विपरीत है और यदि मनुष्य ठीक २ समझ लेवे तो उसके चहुं ओर की प्रत्येक वस्तु उसकी सहायता के हेतु बनाई गई है।

किसी वालक का एक छोटा बगीचा था। वह अपने छोटे ऊगते पौधों को बार बार उखाड़ कर देखता था कि जड़े कितनी और ऊगीं। उसका परिणाम यह होता था कि जड़ें कुछ ऊगने नहीं पाती थीं। हमारे बहुत से विवेकी सदस्य इस प्रकार के वालक के समान हैं। हमें अपने व्यक्तित्व का या अपनी उन्नति का विचार न करना सीखना चाहिये पर उन्नति के मार्ग में प्रवेश कर दूसरों के कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करते रहना चाहिये और आशा करनी चाहिये कि उन्नति अपनी संभाल कर लेवेगी। विज्ञान शास्त्री अपने विषय में जितना अधिक सोचेगा उतना ही कम मनोबल वह अपने प्रयोगों में लगा सकेगा। भक्त अपने विषय में जितना अधिक सोचेगा उतनी ही कम भक्ति वह अपने इष्टदेव की कर सकेगा।

अपनी कुछ जांच करनी तो आवश्यक है पर इसमें बहुत अधिक समय खर्च करना भारी भूल है। यह मान लो ऐसा है जैसा सब समय किसी कल के पुरजों को ठोकने और तेल लगाने में खर्च करना। हममें जो गुण हैं उन्हें हम काम में

लावें और उनके उपयोग करने से हममें दूसरे सद्गुण भी उत्पन्न होंगे और हमारी सच्ची उन्नति होगी। उदाहरणार्थ यदि तुम कोई भाषा सीखते हो तो बोलने का प्रयत्न करने के पहिले उसे पुस्तकों से बिलकुल पूर्णरीति से सीखने का प्रयत्न करना यह भूलभरा होगा। तुम्हें उसका बोलना आरम्भ कर देना चाहिये। बोलने में भूलें हों तो होने दो, उस प्रयत्न से तुम यथा समय में शुद्ध बोलना सीख जाओगे। इसी प्रकार योग्य समय में तुममें त्याग भी आ जायगा। जब मनुष्य अपना जीवन ऊंचे प्रकारका बनाते हैं तब वे आरम्भ में ऐसी बहुत सी वस्तुओं का जानबूझकर त्याग करते हैं जो दूसरों को आनन्द देनेवाली होती हैं और जिनकी ओर दूसरे खिंचते हैं। पर शीघ्र ही ऐसे मनुष्य को मालूम हो जाता है कि ऐसे आनन्दों की ओर उसका मन अब नहीं खिंचता और यह कि इन नीच आनन्दों के लिये उसके पास न समय है न उसकी इनके लिये इच्छा होती है।

सब से प्रधान बात तो उद्वेग या चिन्ता न करना सीखना है। आनन्दमय रहो और प्रत्येक वस्तु का उत्तम उपयोग लो। अपने को ऊपर उठाने का और दूसरों को सहायता करने का प्रयत्न करो। संतोष और उच्च अभिलाषा में विरोध नहीं है। अन्त में भलाई की ही जीत होगी इस कारण अच्छे की आशा करना न्यायसंगत है। हां, यदि हम हमारी दृष्टि भूलोक के ऊपरही टिकाये रखें तो मन की ऐसी आनन्द-मय भावना बनाये रखना सरल नहीं है। इस विषय में मनुष्य का भाव

प्रायः इस बात पर आश्रित रहता है कि उसकी चेतना बहुधा किस लोक में रहती है। यदि दृष्टि भूलोक में ही स्थित है तो प्रायः दुख के सिवाय और बहुत कम दीख पड़ेगा। पर जब चेतना को इससे ऊपर उठाना सम्भव हो जाता है तो ऊंचे लोकों का आनन्द सदैव झलकने लगता है। हमें मालुम है कि भगवान् बुद्ध ने जीवन को दुःखमय कहा है और यह कथन एक रीति से इस लोक के व्यक्त जीवन के लिये सत्य है। पर उतने पर भी पुराने ग्रीस और मिश्र देशवाले इस नीचे भूलोक के जीवन की प्रशांत दृष्टि लेकर उससे भी बहुतसा आनन्द प्राप्त करते थे।

जिज्ञासु का अन्तर्जीवन निरन्तर दोलायमान (इधर उधर हिलता) नहीं होना चाहिये। हमारी बाहिरी वृत्तियां चाहे बदली रहें क्योंकि उनपर सब प्रकार के बाहिरी प्रभाव पड़ा करते हैं। यदि तुम उदास हो तो यह उदासी कई कारणों से हो सकती है और इनमें का एक भी कारण किसी विशेष महत्व का न हो। इस स्थूल शरीर में ऐसे दुःख बहुत हुआ करते हैं। थोड़ा सा अजीर्ण, रक्तप्रवाह में थोड़ी शिथिलता, या कुछ अधिक थकावट, ऐसी अवस्थाओं का कारण हो जो हमें भयानक मालूम पड़ें। इससे अधिक बार तो उदासी का कारण कोई भुवर्लोकवासी व्यक्ति की हाजिरी है जो स्वयं उदास है और जो तुम्हारे आसपास सहानुभूति की खोज में या तुमसे प्राणशक्ति (जिसकी उसमें कमी है) खींचने की आशा से मंडरा रहा है। हमें उदासी की ओर ध्यान ही

न देना चाहिये। उदास होना मान लो हमारे पड़ोसियों के प्रति पाप और अपराध करना है ऐसा समझ उदासी को अपने पास से फेंक देना चाहिये। वास्तव में उदासी ऐसाही पाप और अपराध है। हमें उदासी के बादल पूरी तरह से बिथराते बने या न बने पर हमें ऐसा समझ, कि उदासी है ही नहीं, अपना कार्य पूर्ववत् करते रहना चाहिये।

आपका मन तो आपकाही है आप उसमें केवल ऐसे विचारों को ही प्रवेश करने देवें जिन्हें आप जीवात्मा की दृष्टि से प्रवेश करने की आज्ञा देवें। आपका एस्ट्रल शरीर भी तो आपका ही है उसमें भी आप ऐसे कंप या भोग आने दीजिये जो आपके ऊंचे मनके लिये हितकारी हैं। इस प्रकार उदासी के कंपों पर अपना अधिकार चलाकर उनको अपने पास घुसने ही न देवें। वे आकर आपसे टकरावें ही नहीं। यदि टकरावें तो प्रवेश करके टिकने न पावें। यदि आपके इतने प्रयत्न पर भी वे आपके आसपास मंडरावें तो आपका काम है कि उनका विचार भी न करें न किसी को जानने देवें कि वे हैं।

कभी २ लोग हमको कहते हैं कि उनमें कुछ क्षण के लिये अन्तःप्रेरणा और उच्च आनन्द का प्रवाह आजाता है। उन्हें यह बात ध्यान में नहीं आती कि ठीक इन्हीं क्षणों में उनका ऊँचा मन नीचे मन पर अपना प्रभाव डाल पाता है और जो कुछ उनने इस प्रकार अनुभव किया वह सब अन्तःप्रेरणा और उच्च आनन्द उनमें सदैव वर्त्तमान रहता है पर उनका

नीचा मन उसे उनकी चेतना में नीचे उतरने नहीं देता। तर्क और श्रद्धा द्वारा यह निश्चय कर लो कि यह स्थिति तुममें सदैव वर्तमान है और ऐसा करने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम उसको अनुभवते हैं। यह अनुभव ऐसे काल में भी होता है जब उसका हमारे नीचे मनसे जोड़ अपूर्ण रहता है और हमारी नीची चेतना में हमें उसका भान नहीं होपाता।

दुखी मनुष्य सर्व साधारण मनुष्यों के लिये एक पीड़ा है क्योंकि वह चारों ओर अपने अभागे पड़ोसियों में अपना क्लेश और दुःख फैला रहा है। जो अपने को ईश्वर अंश समझता है वह सदैव आशावान् और आनन्दयुक्त बना रहेगा क्योंकि ईश्वर आनन्दमय है। पछताने में समय खोना भूल है। जो हो चुका वह पछताने से कुछ मिट नहीं सकता। हमारे एक महात्माने एक प्रसंग पर कहा है कि "उसी पछतावे का कुछ मूल्य है जिसमें यह निश्चय किया जाता है कि अब आगे ऐसा काम न करेंगे"।

तपस्या।

तपस्या के विषय में हमारे मेम्बरों में कुछ भूलभरे विचार प्रचलित हैं। इसलिये यहां यह विचार करना उपयुक्त होगा कि वह वास्तव में क्या है और वह कहां तक उपयोगी हो सकती है। इस शब्द का साधारण अर्थ शरीर को दुःख देकर क्षीण करने का है। आत्मोन्नति के लिये सब प्रकार की इच्छा-ओं का त्याग करना ईसाई धर्म में तप समझा जाता है।

पूर्वीय बड़े धर्मों में भी कभी कभी यह विचार मिलता है। यह विचार प्रकृति को बुराई का आदि कारण समझने के कारण उत्पन्न होता है और उससे यह सिद्धान्त निकाला जाता है कि भलाई को प्राप्त होने के लिये या जन्म मरण के दुःख से छूटने के लिये शरीर को कष्ट देना या उसे जीतना आवश्यक है।

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु को यह तुरन्त जान पड़ेगा कि इन दोनों मतों में विचार की घोर भूल है। मनुष्य में कोई बुराई स्वभावतः घुसी नहीं है सिवाय उसके कि जो उसने स्वयं पूर्व-जन्मों में संपादन की हो। प्रकृति (माया) स्वभाव से बुराई भरी नहीं है। क्योंकि पुरुष (या आत्मा) के समान वह भी ईश्वरमय है। प्रकृति (माया) के बिना ईश्वर का आविर्भाव ही नहीं हो सकता। शरीर और उसकी कामनाएं स्वयं न बुरी हैं न भली, पर यह सत्य है कि सच्ची उन्नति होने के पूर्व उनको अन्तःस्थित जीवात्मा के वश में आ जाना चाहिये। शरीर को कष्ट देना मूर्खता का काम है पर उसे नियम से चलाना आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता में (अ० १७ श्लो० ५, ६, १९) में कहा है कि जो दंभ और अहंकारसंयुक्त और काम और राग के बल से भरे अविवेकी मनुष्य शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं और शरीर के इन्द्रिय समुदाय को और शरीरस्थ मुझ ईश्वर को त्रास देते हैं उनको तू आसुरी निष्ठावाले समझ (श्लो० ५, ६)

उन्मत्त हो दुराग्रह से जो अपने शरीर को दुःख देकर

अथवा दूसरों का नाश करने की इच्छा से जो तप करते हैं उसे तामस तप कहते हैं। (श्लो० १९)

यह भ्रम बहुत फैला हुआ जान पड़ता है कि अच्छे बनने के लिये मनुष्य को सदैव क्लेशयुक्त या विना आराम के रहना चाहिये और यह कि शरीर का क्लेश ईश्वर को प्रसन्न करता है। इससे बढ़ कर और कोई विचार अधिक हास्य-जनक नहीं हो सकता। ऊपर लिखे भगवद्गीता के श्लोकों में सूचना है कि कदापि यह और भी अधिक बुरा है क्योंकि उसमें कहा है कि जो शरीर को कष्ट देते हैं वे शरीरस्थ ईश्वर को कष्ट देते हैं।

हमारे महात्मा लोग जो हमसे बहुत ऊंचे हैं आनन्दमय और सहानुभूति भरे हैं पर उनमें शोक संताप नहीं है। हम लोगों को भी दूसरों के प्रति सहानुभूति अनुभव करना चाहिये पर उनका शोक अपना शोक नहीं बनाना चाहिये। बड़े कष्ट में पड़ा मनुष्य किसी विषय में भी सही २ विचार नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि में सारा जगत् अंधकारमय भासता है और उसे ऐसा भासता है कि किसी को आनन्दयुक्त न होना चाहिये। जब वह बड़े आनन्द को प्राप्त होता है तो उसे सारा जगत् आनन्दयुक्त दिखने लगता है और वह समझता है कि किसी को दुखी न होना चाहिये। पर इन दोनों अवस्थाओं में जगत् तो जैसा का तैसा बना है और वह भी वैसाही बना है। केवल उसके एस्ट्रल या लिंग शरीर में भेद हुआ है। तुम सुखी हो अथवा दुखी, जगत् वैसाही चला जाता है।

अपने स्थूल (लिंग) शरीर से अपनी चेतना न मिलादो, उसे "अहं या मैं खुद" ऐसा न समझो, पर इस मायाजाल से, इन भावों से, निकल जाने की चेष्टा करो।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्नति के लिये शरीर को कष्ट देने का यह हास्यजनक सिद्धान्त कुछ २ इस बात पर से निकला है कि आत्मोन्नति के लिये इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है और जिसका विकास नहीं हुआ ऐसे मनुष्य को यह इन्द्रियनिग्रह अप्रिय मालूम होता है। पर कष्ट देना पुण्यकारक होने के बदले यह सूचित करता है कि इन्द्रियों पर अभीतक जय प्राप्त नहीं हुई। यह कष्ट इस कारण होता है कि लड़ाई अभी तक जारी है और नीची प्रकृति के ऊपर जय अभी तक नहीं मिली है। पूर्णसंयम हो जाने पर फिर नीचे भोगों की इच्छा नहीं रहती और इस कारण लड़ाई और कष्ट भी नहीं होता। मनुष्य अपना ठीक २ जीवन बनाकर नीचेको त्यागता है। यह त्याग उसके लिये बिलकुल स्वाभाविक बन जाता है। अब उसके मन में यह भाव नहीं रहता कि यद्यपि यह त्याग करने में त्रास होता है तो भी उसका प्रयत्न करना चाहिये। इस कारण यह कष्ट केवल मध्यम अवस्था में प्राप्त होता है और सफलता का लक्षण कष्ट नहीं है पर कष्ट का न होना।

शरीर को कष्ट देने के इस सिद्धान्त का एक दूसरा कारण कार्यकारण के विषय में भ्रम का होना भी है। यह देखा गया है कि सच्ची उन्नतिवाले पुरुष की आदतें सादे प्रकार की रहती

हैं। साधारण मनुष्य जिन बहुतसी छोटी २
को बड़े महत्व की और अतिआवश्यक स
विषय में वह मनुष्य बहुधा उदासीन
यह विलास-सामग्री की उदासीनता उ
परिणाम है न कि कारण। वह इन छोटी २
नहीं करता क्योंकि वह इनकी आवश्यकता से
और उनमें उसे कुछ भी इच्छा नहीं रहती।
भी अनुचित नहीं समझता। यदि किसी में उन
है और वह इसका अनुकरण कर उनका त्या
कुछ उसकी उन्नति न होगी। एक काल में
और लकड़ी के टुकड़ों से खेलता है। कुछ
होने पर वह क्रिकेट और फुटबाल से खेलता है
होने पर उसका प्रेम इनसे भी हट जाता
प्रेम और जीवन का खेल खेलने लगता है।
अपने स्यानों की नकलकर गुडिया और लकड़
फेंक क्रिकेट को खेलने का प्रयत्न करता है
अपने शिशुकाल के परे नहीं पहुंचता।

क्लेश के निमित्त क्लेश धारण करने में
है। पर तीन अवस्थाओं में स्वेच्छा से ग्रहण
उन्नति का अङ्ग हो सकता है। प्रथम जब दू
देने के लिये कष्ट उठाया जाता है जैसे किसी

जाता है कि मेरा अमुक व्यसन मेरी उन्नति में बाधारूप हो रहा है जैसे तम्बाकू या मदिरा पीना या मुर्दे (मांस) खाना। यदि वह उत्साहयुक्त है तो वह इनको तुरन्त ही त्याग देता है। पर शरीर को तो उनकी आदत पड़ी है। इसलिये वह शरीर उन्हें न पाकर उन द्रव्यों की पुकार करता है और उस मनुष्य को बहुत सी अड़चन में डालता है। यदि वह अपने निश्चय पर दृढ़ बना रहे तो शीघ्र ही उसका शरीर अपनी नई स्थिति के अनुसार बन जायगा और ऐसा हो जाने पर फिर कष्ट का भान न होगा। पर जब तक उस मनुष्य और उसके शरीर के बीच में युद्ध जारी है तबतक उसे बहुत सा कष्ट भोगना पड़े। इसे उस बुराई के ग्रहणरूपी कर्म का विपाक समझना चाहिये, जिसके छोड़ने की वह अब चेष्टा कर रहा है। जब भोग का क्षय हो गया तो इस कर्म का भी क्षय हुआ, जय प्राप्त हुई और विकास क्रम की एक सीढ़ी आगे चढ़े।

मुझे मालूम है कि कभी २ जब मनुष्य बहुत दुर्बल होता है उस समय उसे किसी ऐसी बुरी आदत का तुरन्त त्याग करना जोखिमभरा होवे। अफीम की आदत इसका एक उदाहरण है। इसके दास को इसकी खुराक बहुत धीरे २ घटानी पड़ती है क्योंकि अफीम एकदम त्याग देने से शरीर पर जो बोझा पड़ेगा वह उसके संभालने के लायक न होवे। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ दया योग्य ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें मांसाहार की आदत के त्यागने में भी इसी प्रकार धीरे २ खुराक घटानी पड़ती है। यदि इच्छाशक्ति का दबाव बराबर

धना रहे तो शरीर शीघ्र ही वश में आ जावेगा और अपने को नई स्थिति के योग्य बना लेवेगा।

तीसरी अवस्था जिस में शरीर के कष्ट का उपयोग होवे, वह है जिसमें मनुष्य अपने शरीर से जान बूझ कर ऐसा काम करवाता है जो उस शरीर को अप्रिय लगता हो, यह देखने के लिये कि जब काम पड़े तब वह शरीर उसकी आज्ञा का पालन करेगा या नहीं। परन्तु यहां भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि इसकी कीमत शरीर के तुरंत आज्ञापालन में है न कि कष्ट में। इस प्रकार मनुष्य संसार के बहुत से छोटे २ दुःखों के प्रति उदासीन बन जाता है और इस कारण बहुतसी चिंता और क्रोध से बच जाता है। इस प्रकार अपनी इच्छाशक्ति बढ़ाने और शरीर को आज्ञा के आधीन बनाने में उसे केवल वे ही बातें साधनी चाहिये जो उपयोगी होवें। हठयोगी की इच्छाशक्ति तो निस्संदेह बढ़ती है जब वह ऊर्ध्व-बाहु रहकर अपनी भुजा को सुखा डालता है। पर इस में उसका एक हाथ भी बेकाम होजाता है। इच्छाशक्ति उतनी ही दूसरे ऐसे प्रयत्न से बढ़ सकती है जो सदैव की बाधा उत्पन्न करने के बदले सदैव के लिये उपयोगी हो पड़े जैसे चिड़चिड़ेपन को, या अभिमान को, या अधीरता को, या कामवृत्ति को जीतने से। जिन लोगों के चित्त में तपस्या की इच्छा उत्पन्न होती है उन्हें भगवद्गीता के ये वाक्य ध्यान में रखना चाहिये :—

"शौच, आर्जव (सीधापन), ब्रह्मचर्य, अहिंसा, ये शरीर के तप कहाते हैं। अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हितकारी

वाक्य बोलना......यह वाङ्मय तप है। मनःप्रसाद, सौम्यत्व (मन की समता) मौन, आत्मसंयम, मनके भावों की शुद्धि यह मन का तप है (अ० १७ श्लो० १०, १५, १६,)। इस बात पर विशेष ध्यान दो कि इस अंतिम श्लोक में मनःप्रसाद या मन की प्रसन्नता को मानसी तप का प्रथम लक्षण कहा है। जो सच्ची उन्नति करना चाहता है उसके लिये पूर्ण आत्मसंयम का यह प्रथम लक्षण है। प्रसन्नचित्त बने रहना यह हमारा प्रथम धर्म है। मनकी मलीनता विषाद या उदासी से केवल असिद्धि और दुर्बलता प्रगट होती है क्योंकि इनका अर्थ स्वार्थ है। जो मनुष्य अपने को अपने दुःख या अपने उपर हुए अन्यायों पर शोच करने देता है वह अपने साथियों के प्रति अपने धर्म को भूल जाता है। वह रोगबीज फैलाने का केन्द्र बनता है और अपने भाइयों में आनन्द फैलाने के बदले उदासी फैलाता है। पूर्ण स्वार्थ के सिवाय यह क्या है। यदि किसी को तप करने की इच्छा होती है तो उसे इस गीता शास्त्र में कहे मन के तप का अभ्यास करना चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमारे खानगी दुःख और अड़चनें कितनी ही क्यों न हों हम उन्हें दूसरों के कारण भूल जावेंगे। इससे वह ब्रह्मविद्या का विशेष ज्ञान पाकर अपने सहयात्रियों के ऊपर सदैव आनन्द की वर्षा करता रहेगा और "ब्रह्म आनन्दमय है" इसके साक्षात्कार कराने में उन्हें सहायता देता रहेगा।

छोटी २ चिन्ताएं।

अनावश्यक चिंता आजकल के जीवन का प्रधान लक्षण है। जो लोग अपनी आत्मोन्नति के लिये विशेष प्रयत्न कर रहे हैं उन्हें तो अयोग्य चिंता है ही, पर साधारण मनुष्यों में भी यही दोष पाया जाता है। दिव्यदृष्टिवाले मनुष्य को साधारण मनुष्य का एस्ट्रल शरीर (लिंगशरीर) देख कर खेद होता है। "मनुष्य दृश्य और अदृश्य" नामक अंग्रेजी ग्रन्थ के पृष्ठ १३१ वाले चित्र से प्रगट हो जायगा कि मनुष्य का एस्ट्रल या लिंग शरीर कैसा होना चाहिये। उसमें केवल मनोमयकोष (Mental body) के रंगों की झलक आनी चाहिये जिससे यह प्रगट होगा कि उसमें केवल वे ही भाव उत्पन्न होते हैं जो उसकी विवेक बुद्धि के अनुकूल हैं। आजकल के विकासक्रम अथवा उन्नति का विचार कर यदि यह स्थिति संभव न हो तो १०२ सफ़े वाले चित्र से प्रगट होता है कि औसत दर्जे के एस्ट्रल शरीर में उसकी शांत अवस्था में कौन २ से रंग होने चाहिये। उसमें बहुत से ऐसे रंग हैं जिनसे उसमें अवांछनीय बुरे गुणों का उपस्थित होना पाया जाता है। इन दुर्गुणों को जितने शीघ्र हो सके निकाल डालना चाहिये। इसका हाल तो उस पुस्तक में लिखा है पर हम यहां पर एक दूसरी बात पर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

हम ऊपर बता चुके हैं कि शांत अवस्था में साधारण

अविकासित लिंग शरीर किस प्रकार का होता है यह उस चित्र से प्रगट होता है। पर आज कल की सभ्यता की एक बुराई यह है कि शायद ही कोई लिंगशरीर आपेक्षिक रीतिसे शान्त होवे। लिंगशरीर की प्रकृति तो निरंतर चलायमान रहती है और जो चित्र में जुदे २ रंग दिखाते हैं वे अलग २ प्रकार की गति के बोधक हैं। पर इसमें एक प्रकार का क्रम रहना चाहिये और उनकी एक हद भी रहनी चाहिये। विशेष उन्नति वाले मनुष्य के लिंगशरीर में पांच गतिक्रम रहते हैं पर साधारण मनुष्य में कमसे कम नौ गतिक्रम रहते हैं और उसमें कई और रंगों का मिलान भी रहता है। वह तो पूर्व के समान अच्छा नहीं हुआ, पर पश्चिमीय देशों के मनुष्यों की अवस्था इससे भी बहुत खराब रहती है। नौ गतिक्रम एक ही समय में रहें यह तो बुरा है ही पर कई एक स्त्री या पुरुष के लिंगशरीर में ५० पचास या कभी २ सौ गतिक्रम भी पाये जाते हैं। शरीर के कुछ स्पष्ट भाग होवें जिसमें प्रत्येक भाग का अलग गतिक्रम होवे पर इसके बदले एस्ट्रल शरीर के बाहिरी भाग में बहुत से भंवर और आड़े टेढ़े एक दूसरे के विरुद्ध बहुत से प्रवाह देखे जाते हैं। ये एक दूसरे से बड़ी गड़बड़ रीति से लड़ते हैं।

जो लिंगशरीर इस प्रकार एकही काल में पचास जुदे कंपों से कंपित होता है वह प्रकृति चित्र को बिगाड़नेवाला और अपने पड़ोसियों को बाधा पहुंचानेवाला होता है। वह देखने में बुरा तो है ही पर उससे अधिक त्रास भी होता है।

उसकी तुलना किसी स्थूल शरीर से कर सकते हैं जिसमें अतिशय बिगड़ा हुआ कंपवायु रोग हो जिसके कारण सब अंग जुदी २ दिशाओं में एक साथ और झटक कर हिलते हों। पर इस उदाहरण में अंश मात्र की भी सादृश्यता लाने के लिये हमें यह कल्पना करनी पड़ेगी कि यह कंपवायु एक की छूत से दूसरे को भी लग जाता है अर्थात् जो कोई उसको देखता है उसे भी अपने में वैसा ही कंपवायु उत्पन्न करने की अति तीव्र इच्छा होती है। क्योंकि इस भयंकर आपद भरी कंपेंकी अति गड़बड़ अवस्था का नाजुक प्रकृतिवाले लोगों पर जो उसके निकट आते हैं बहुत क्षोभ करनेवाला और अप्रिय असर होता है। उससे उनके लिंगशरीरों में उस असर के बीज भर जाते हैं और अशान्ति और चिन्ता का दुःखभरा भान उनको होने लगता है।

ऐसे मनुष्य अभी थोड़े हैं जो इस बुरी क्रिया का कार्य देख सकें। पर उनसे अधिक ऐसे बहुतेसे हैं जिन्हें ऐसे व्याकुल खलबली मचानेवाले मनुष्यों के पास आने पर बेचैनी का अस्पष्ट भान होता है। बहुत से लोगों को तो ऐसे लोगों से मिलने के समय कोई भान नहीं होता पर दिन के अन्त में उन्हें कदाचित् आश्चर्य होता है कि आज हम इतने अधिक क्यों थक गये। उसके फल और नुकसान तो मौजूद हैं चाहे किसी को उनका तुरन्त भान हो या न हो।

जो मनुष्य मूर्खता से अपने को इस स्थिति में पहुंचाता है वह दूसरों का तो नुकसान करता ही है पर वह अपना

नुकसान सबसे अधिक करता है। एस्ट्रल शरीर का निरन्तर का क्षोभ बहुधा ईथरमय शरीर द्वारा स्थूल शरीर में असर उत्पन्न करता है जिससे ज्ञानतन्तुओं के सब प्रकार के रोग हो जाते हैं। प्रायः ज्ञानतन्तुओं के सब रोग अनावश्यक चिन्ता और उद्वेग के परिणाम हैं और यदि रोगी शान्त रह कर अपने कोशों को शान्त रखे तो वे शीघ्र ही मिट जायंगे।

परन्तु जहां स्थूल शरीर इतना बलवान् है कि एस्ट्रल या लिंगशरीर के निरन्तर के कम्पों का असर उस पर नहीं पड़पाता वहां भी इन कम्पों का असर उसके लिंगशरीर में उतनाही नुकसान उत्पन्न करता है। दाह के ये छोटे २ केन्द्र लिंगशरीर में वैसी ही क्रिया करते हैं जैसी कि फोड़े स्थूल शरीर में करते हैं। ये स्वयं तो पीड़ा करते ही हैं; उनमें थोड़ा भी छूने से बहुत दर्द होता है, पर ये ऐसे क्षीण स्थान भी हैं जिन में से प्राणशक्ति बह जाती है और जिनके द्वारा रक्त में विष प्रवेश हो सकता है। जिस मनुष्य का लिंगशरीर ऐसी व्याकुल अवस्था में है वह कोई भी बुरी शक्ति से, जो उसे मिले, लड़ाई नहीं कर सकता और न भली शक्तियों का लाभ भी उठा सकता है। इन खुले घावों से उस की शक्ति बह जाती है और सब प्रकार के रोग बीज उस में प्रवेश करते हैं। वह अपने सारे लिंगशरीर को एक रूप से न काम में ला सकता है और न उस को अपने वश में रख सकता है। पर वह उसे कई जुदे २ केन्द्रों में विभक्त होने देता है और अपने ऊपर उसका अधिकार चलने देता है। उसकी छोटी २ चिन्ताएं

और पीड़ाए उसके शरीर में अपना घर कर लेती हैं और उसके ऊपर अपना अधिकार जमालेती हैं। यहां तक कि वे हजार शैतान का रूप धारण कर उसको ऐसा दबा बैठती हैं कि वह अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता।

यह दुःखमयी स्थिति बहुत देखने में आती है। मनुष्य इस में कैसे न फंसे और यदि फंस गया है तो इससे कैसे मुक्त होवे? इन दोनों प्रश्नों का एकही उत्तर है, कि उसे चिन्ता न करना, न डरना, क्लेश न करना, ये गुण सीखना चाहिये। उसे अपने से इस प्रकार तर्क करना चाहिये कि ये अपने संबंध की छोटी २ बातें बिलकुल तुच्छ हैं। हालांकि उसे वे इतनी बड़ी समझ पड़ती हैं। उसे यह विचरना चाहिये कि जब हम दूसरे जन्म में या २० वर्ष पीछे से भी इनके ऊपर दृष्टि फेरेंगे तो ये कैसी तुच्छ जान पड़ेंगी। उसे ये ज्ञानभरे शब्द अच्छी तरह अपने ध्यान में रखना चाहिये कि जो बाह्य बातें मनुष्य को होती हैं उन में से कोई भी बड़े महत्व की नहीं होती और प्रायः बहुतसियों का तो कुछ भी महत्व नहीं होता। महत्व इसका है कि वह स्वयं क्या करता है, क्या सोचता है या क्या कहता है क्योंकि इन से उसका भविष्य बनता है। दूसरे लोग क्या कहते हैं या सोचते हैं या क्या करते हैं इनका उसके लिये कुछ भी महत्व नहीं है। उसे अपने दैनिक जीवन के इन छोटे २ कांटों से ऊपर उठ जाना चाहिये और उनसे अपने में थोड़ा भी क्षोभ न होने देना चाहिये।

इसके साधने में आरम्भ में थोड़ा कड़ा संकल्प चाहना पड़ेगा। क्योंकि जो बुरी आदत पुरानी और बलवान् हो गई है उसे जीतने में प्रयत्न की आवश्यकता है। उसके मन में बार २ ऐसे विचार आवेंगे कि अमुक मनुष्य ने मेरी बुराई की है, कदापि वह अब भी कर रहा है, कदापि दूसरे लोग उसका विश्वास करेंगे, कदापि उससे मेरा नुकसान होगा इत्यादि। पर उसे इस प्रकार उत्तर देना चाहिये, "हमको कुछ परवाह नहीं कि अमुक मनुष्य हमारे लिये क्या कहता है, हमें दुःख है कि वह अपने लिये इतना बुरा कर्म बनाता है। हम उसके कथन के विषय में या उसके विषय विचार बिलकुल न करेंगे। हमें अपना काम करना है और मूर्ख चुगली के विषय में सोच कर वृथा समय खोने का अवकाश नहीं है।"

या यह भी हो सकता है कि भविष्य मुसीबत की पूर्व सूचना पुनः पुनः उसके मगज़ में प्रवेश करती है कि "कदापि अगले साल हमारी नौकरी छूट जायगी, कदापि हमें भूखों मरना पड़ेगा, कदापि हमारा दिवाला निकल जायगा, कदापि हमारे मित्रों का स्नेह हम पर से उठ जायगा" इस प्रकार की चिन्ता को भी दृढ़ता से रोकना चाहिये। कदापि ये सब बातें होवें और कदापि न भी होवें और पुल मिलने के पूर्व ही उस पर से उतरने का प्रयत्न करना वृथा है। हम सब योग्य पूर्व उपाय कर लेवेंगे और फिर इतना करने पर आगे उसकी लेशमात्र चिंता न करेंगे। चिंता करने से होनहार कुछ रुकने का नहीं है पर चिंता से हम उस होनहार का सामना

करने में असमर्थ हो जांयगे । इसलिये हम चिंता नहीं करेंगे और उस सारे विषय को अपने मन से निकाल देते हैं ।"

चिंता का एक दूसरा साधारण रूप जिसका बहुत भयंकर परिणाम होता है वह है जिसमें लोग दूसरों के कथनपर या कृत्य पर बुरा मान लेते हैं। साधारणतः तो मनुष्य को अपनी व्यवहारबुद्धि द्वारा इस भूल से बचना चाहिये पर ऐसे बचने वाले थोड़े हैं। इस बचाव के लिये केवल यही आवश्यक है कि हम उसका निष्पक्षपातता से और शान्ति से विचार करें। इस से हमें मालुम हो जायगा कि दूसरे के कहने या करने से हमारे लिये कुछ भेद न होना चाहिये। यदि उसने कोई ऐसी बात कही है जिससे हमारे मन को दुःख होता है तो हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि बहुत करके उसकी इच्छा दुःख पहुंचाने की न थी। तो फिर हमारे चित्त में उस विषय की चिंता क्यों होनी चाहिये। यदि उस मनुष्य का कथन वास्तव में अश्लील या द्वेष भरा था—जैसा कि बहुत कम होता है—या किसी ने कुछ खास दुःख पहुँचाने की इच्छा से कहा, तो भी उसके ऊपर से दुःख मानना मूर्खता का काम है। यदि उसके मन में कोई बुरी भावना थी तो वह दया का पात्र है। क्योंकि ईश्वर के न्यायनियम के अनुसार उस मनुष्य को अपने बुरे विचारों का प्रतिफल अवश्य मिलेगा। उसके कथन से हमारे मन में तो लेशमात्र क्षोभ न होना चाहिये क्योंकि सोचने से हमें जान पड़ेगा कि वास्तव में उसका कोई फल नहीं हुआ।

क्षोभकारक शब्दों से हमारा किसी प्रकार का नुकसान नहीं होता। पर यदि हम उनके ऊपर बार२ विचार करते रहें या अपने चित्त पर उनका असर होने देवें तो उससे हमको पीड़ा होगी। दूसरों के शब्द केवल हवा के कम्प हैं। यदि हम उनको न सुन पाते या हमें उनकी खबर न मिलती तो क्या उनसे हममें क्षोभ होता? यदि न होता तो फिर शब्दों ने तो हमारे चित्त में पीड़ा उत्पन्न नहीं की पर उनके सुनने से वह हुई। इसलिये यदि हम दूसरे के कथन के विषय में चिंता करें तो हमारे लिंगशरीर में जो उससे क्षोभ होगा उसके लिये जवाबदारी हमारी है न कि उसकी। हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम अपने को भूल जावें ताकि दूसरों के कल्याण के विषय को सदैव याद रख सकें। यदि तुम यही निश्चय करलो कि हमको बुरा न लगेगा, यदि तुममें अपना विचार न हो, और तुम यह सोचते रहो कि दूसरे मनुष्यों को तुम किस प्रकार सहायता पहुंचा सको तो तुमको कभी किसी भी वस्तु से बुरा न लगेगा।

इसी रोग का एक दूसरा लक्षण उससे कम सम्बन्ध रखने-वाला और इस कारण कम निन्दनीय है पर उन्नति में उससे कुछ कम बाधा नहीं होती। यह घर के या धंधे के संबंध में तुच्छ बातों में बहुत उद्विग्न होना है। उससे विवेक बुद्धि की कमी या वस्तुओं के योग्य महत्व या क्षुद्रत्व के विषय में योग्य विचार की कमी रहती है। यह सत्य है कि घर में और धंधे में योग्य व्यवस्था रहनी चाहिये। सब बातें योग्य समय पर

और ठीक ठीक रीति से होनी चाहिये। पर इन्हें साधने के लिये ऊंचा लक्ष्य या ध्येय नियत करके उसको साधने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। हमेशा बेकाम चिन्ता करके प्रत्येक मनुष्य को नाराज़ करने से यह नहीं सधता।

जिस मनुष्य का दुर्भाग्य से ऐसा स्वभाव पड़ा है उसे उस स्वभाव से दृढ़ लड़ाई करके जीतना चाहिये। जब तक वह अपनी प्रकृति को जीत कर सुधार न लेवेगा तब तक वह जगत् में एक लड़ाई उत्पन्न करनेवाला बल बना रहेगा न कि शांति पैदा करनेवाला, और इस कारण वह जगत् के किसी काम का न होगा। जो पूर्व लिखित अपने निज विषय की चिन्ता करनेवाला रहता है उसमें और इसमें थोड़ा ही भेद रहता है। इसमें फोड़े सरीखे भंवर उसकी अपेक्षा थोड़े रहते हैं पर इसके सारे लिङ्ग शरीर में अशांति और एक प्रकार के कंप निरन्तर बने रहते हैं जिनसे दूसरों को उतना ही कष्ट होता है और जिनसे खलबली मचानेवाले की उन्नति और आनन्द उतने ही नष्ट होते हैं।

ऐसे मनुष्य को अपने मन और भावों का स्वामी बनना सीखना चाहिये। और ऐसे प्रत्येक भाव और विचार को त्यागना चाहिये जिसे उसका ऊंचा मन योग्य न समझे। छोटे छोटे भावों का ढेर विचारवान् पुरुष के लिये अनुचित है क्योंकि मनुष्य तो ईश्वर अंश है और उसे अपने कामनारूपी यक्ष (desire-elemental) के अधिकार में नहीं पड़ना

चाहिये। यह यन्त्र अभी विकासक्रम में खनिज वर्ग की उन्नति को भी नहीं प्राप्त हुआ है।

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि लिंगशरीर के इन विनाश कारक क्रमहीन कंपों से बहुधा स्थूल शरीर की आरोग्यता का नाश होता है पर आत्मोन्नति के मार्ग में उन्नति को तो यह बिलकुल रोक देता है, उन्नति का यह विनाशक है। इस मार्ग में आरम्भ में ही जो बड़ी बातें साधनी पड़ती हैं उनमें से एक पूर्ण आत्मसंयम है और इस साधना में चिंता के पूर्ण त्याग से बहुत बड़ी सहायता मिलती है।* आरम्भ में वैसी आदत होने के कारण लिंग शरीर की प्रकृति कंपित होकर उसमें अनावश्यक भंवर पड़ जायंगे पर प्रत्येक बार उन्हें दृढ़ता से मिटा कर शान्ति को स्थिर करना चाहिये। यही उसका जीवात्मा चाहता है।

उसे अपने में ईश्वरीय प्रेम इतना भर लेना चाहिये कि वह उसमें से निरन्तर चारों ओर और मनुष्यों की ओर बहता रहे। ऐसा करने से फिर अनावश्यक कंपों के लिये कोई स्थान न रहेगा। यदि उसका सारा जीवन ईश्वर की सेवा में और जगत् के विकास क्रम को आगे बढ़ाने के प्रयत्न में लगा है तो उसे अपने विषय की हलकी तुच्छ बातों के विषय में चिन्ता

---

* देखो हठयोगप्रदीपिका। बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवान्तर चिन्तनम्। सर्वं चिंता परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत्। योगी को बाहिरी भीतरी कोई चिंता न करनी चाहिये। अनु०

करने के लिये अवकाश ही नहीं मिलेगा। यदि सच्ची उन्नति करनी है या कोई सच्चा काम करना है तो मनुष्य को नीचे मन को त्याग ऊंचे मन को प्राप्त होना चाहिये। हमारे इस जगत् से निकल उसे उनके जगत् में प्रवेश करना चाहिये। अशांति को त्याग उसे ऐसी शांति में प्रवेश करना चाहिये जो समझ के परे है।

वासना का क्षयकरना।

हम अकसर पढ़ते हैं कि हमें वासना का नाश करना चाहिये। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह धीरे २ ही सध सकता है। कामना शब्द से नीची और स्थूल वासनाओं का अर्थ है। इनके नाश किये बिना तो उन्नति हो ही नहीं सकती पर बाकी इच्छाएं तो हम लोगों को भविष्य में भी बहुत समय तक बनी रहेंगी। जैसे गुरुदेव की सेवा करने की, उनके शिष्य बनने की, मनुष्य जाति को सहायता करने की उत्कट इच्छा हम लोगों को रहती है। ऐसी इच्छाओं का तो नाश नहीं करना चाहिये। नीची कामनाओं को त्याग कर ऊंची इच्छाओं को पहुंचना अर्थात् कामनाओं को शुद्ध करके उनको उच्च अभिलाषाओं में बदल देना यह आवश्यक है।

इससे आगे बढ़कर एक और रूपान्तर होगा। जैसे अभी हमें उन्नति की इच्छा है। एक समय ऐसा आवेगा जब हमें उसके अवश्य होने की पूर्ण खातिरी हो जायगी और उसकी इच्छा करना हम बंद कर देवेंगे क्योंकि तब हम जानने

लगेंगे कि हमारा उस उन्नति के होने का लक्ष्य है और वह यथासाध्य शीघ्रता से सर्वकाल में होती रहती है। उस समय यह वासना दृढ़ संकल्प के रूप में बदल जाती है। इस अवस्था में पहुँचने से किसी भी वस्तु के लिये शोच नहीं हो सकता। तुम तब यथाशक्ति उत्तम प्रयत्न करते हो और तुमको खातिरी रहती है कि उसके उत्तर में उत्तम ही फल होगा। कोई २ लोग एक या दूसरा सद्गुण प्राप्त करने की बहुत चेष्टा करते हैं। परन्तु केवल इच्छा करके अपनी शक्ति वृथा मत खोओ पर उसके बदले में दृढ़ संकल्प (will) करो। शुद्धता की आवश्यकता है पर उसका अर्थ पूर्ण निःस्वार्थपना है न कि केवल कुछ दोषों से बचे रहना। उदाहरणार्थ महत्व-आकांक्षा यह बहुत लोगों में पाई जाती है पर उस में स्वार्थ का अंश सदैव रहता है। महात्मा को यह आकांक्षा नहीं रहती। उसकी इच्छा और ईश्वर की इच्छा एकही रहती है और ईश्वर का संकल्प विकासक्रम का है। हम सब ईश्वर के अंश हैं और हमारी इच्छाएं उसकी इच्छा का अंश हैं। हमें इस बात का ज्ञान नहीं रहता। तबही हम उसकी इच्छा से भिन्न अपनी अलग २ इच्छाएं बनाते हैं। भगवान् बुद्धने हमारे जीवन के नियमों को एक छोटे से श्लोक में सुन्दर रीति से कहा है:—

सर्वं पापस्य अकरणं कुशलस्य उपसंपदा।
स्वचित्त परियोदपनम् एतम् बुद्धानुशासनं॥

सर्व पापों से हट जाना, अच्छी बातों को करना, अपने चित्त को साफ़ करना, यह बुद्ध का धर्म है।

मेरे चक्र (वृत्त) का केन्द्र।

मार्ग में प्रवेश करने वाले जिज्ञासु की बाट में जो बाधाएं आती हैं उनमें की बहुत कठिन बाधा—क्योंकि बहुत दूरतक असर फैलाने वाली और प्रधान—'आत्मपरायणता' है। इससे उस कच्ची और कुरूप स्वार्थता का अर्थ नहीं है जो दूसरों को नुकसान पहुँचा कर अपने लिये प्रत्येक वस्तु ढूंढ़ती है। हम मान लेते हैं कि निदान इतनी स्वार्थता को त्यागे बहुत काल बीत चुका। पर जिनने ऐसी स्वार्थता बहुत काल पूर्व त्याग दी है उनमें यह दूसरी बुराई इतने पर भी उपस्थित पाई जाती है। यह ऐसी सूक्ष्म और गहिरी रहती है कि लोग उसको बुराई ही नहीं समझते और उसकी हाज़िरी का उनको भान तक नहीं रहता। पर यदि मनुष्य अपने विषय में सच्चा २ और निष्पक्षपातता से विचार करे तो उसे प्रगट हो जायगा कि उसका सारा विचार अपने ही विषय का रहता है। वह दूसरों का और दूसरी वस्तुओं का विचार अकसर करता है पर यह केवल अपने सम्बन्ध में। वह बहुत से कल्पित नाटक रचता है पर उन सब में स्वयं प्रधान पात्र रहता है। रङ्गभूमि के मध्य पूर्ण प्रकाश में वह स्वयं अपने को रखता है। यदि इस पद को वह नहीं पाता तो उसे दुःख और क्रोध होता है। वह उन दूसरों की ईर्ष्या करता है जो स्वयं उसकी जगह

दूसरों का मान पाते हैं। ऐसे गुण को बदल देना उसके लिये मानो सब वस्तुओं का आदि रूप ही बदल देना है—अपने को बिलकुल दूसरे प्रकार का मनुष्य बना देना है। बहुत से मनुष्य इस मूल प्रकार के परिवर्तन के लिये तैयार ही नहीं हैं क्योंकि उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि हमारी ऐसी स्वार्थपरायण वृत्ति है।

मनकी इस भावना से सब उन्नति रुक जाती है। उसको बिलकुल बदल देना चाहिये। उतने पर भी कितने थोड़े उसका प्रयत्न करते हैं। इस बुराई बढ़ानेवाले घिराव से निकलने का एक मात्र ही उपाय है और वह प्रेम है। साधारण मनुष्य के जीवन में यही एक वस्तु है जो उसके लिये इस अवस्था को बदल देती है, जो उसको दृढ़ता से पकड़ उसके सारे दृष्टि-केन्द्र को घुमा देती है। जब वह कुछ काल के लिये प्रेमासक्त होता है तो उसके केन्द्र में वह स्त्री हो जाती। वह जगत् की प्रत्येक वस्तु को उसके हिसाब से सोचता है न कि अपने हिसाब से। जिस देवी की पूजा वह इस प्रकार करता है वह बाकी के लोगों को बहुत साधारण-सी दिख पड़ती हो पर निदान उसके लिये तो वह सुन्दरता और लावण्यता का मानो अवतार ही है। उसमें वह वह दिव्यता देखता है जो वास्तव में उस स्त्री की आत्मा में है; क्योंकि वह हम सब में भी गुप्त रूप से है यद्यपि हम लोग उसे देखते नहीं हैं। यह सत्य है कि कुछ समय के पश्चात् बहुधा ऐसे मनुष्य का उत्साह घट जाता है और वह दूसरी स्त्री के प्रति अपना प्रेम लगाता है। परन्तु उतने पर भी

वह उतने काल के लिये स्वार्थपरायण न था। कुछ काल के लिये निदान उसकी दृष्टि चौड़ी हो गई थी।

साधारण मनुष्य इस प्रकार जिस कार्य को विना समझे करते हैं उसे गुप्त विद्याके जिज्ञासु को समझ बूझकर करना चाहिये। उसे अपने जीवनवृत्त के केन्द्र से अपने को निकाल कर अपने गुरुदेव को उस सिंहासन पर विठालना चाहिये। वह स्वभाव से निरन्तर यह सोचा करता था कि प्रत्येक वस्तु से उस पर क्या असर पड़ेगा। अथवा उससे वह क्या लाभ या क्या आनन्द उठा सकेगा। इसके वदले उसे अव यह सोचना सीखना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का कार्य गुरुदेव के प्रति किस प्रकार का होगा। गुरुदेव तो केवल मनुष्य जाति के विकास में सहायता देने के हेतु से जीते हैं। इसलिये उसे सदैव यह विचारना चाहिये कि उसकी प्रत्येक क्रिया से विकासक्रम में कितनी सहायता या कितनी वाधा होगी। आरम्भ में तो उसे ऐसा करने में कुछ प्रयत्न करना पड़ेगा। पर उसे उसमें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये ताकि वह उस भाव को वैसा ही स्वाभाविक रीति से वनाये रखे जैसे पूर्व में वह अपने को उस केन्द्र में रखता था। एक गुरुदेव ने कहाहै कि उसे अपने को बिलकुल भूल जाना चाहिये जिसमें कि वह केवल दूसरों की भलाई को याद रख सके।

पर जब वह अपने को इस प्रकार सिंहासन से उतार अपने वदले अपने साध्य कार्य को वहां रखता है तव उसे बहुत सावधान रहना चाहिये जिसमें उसे किसी प्रकार का भ्रम न

हो—जिसमें वह फिर उसी स्वार्थपरायणता को दूसरे विशेष स्वरूप में प्राप्त न हो जावे। हम इस थियासोफिकल समाज के लिये बहुत से अच्छे और उत्साही काम करनेवालों को जानते हैं जिनने यही भूल की है—जिनने इस कार्य को अपने साथ मिला लिया और मान लिया कि जो कोई हमारे विचारों से और हमारी विधियों से पूर्णतया एक मत नहीं होता वह ब्रह्मविद्या (थियासोफ़ी) का शत्रु है। ऐसे काम करनेवाले कितनी अधिक वार ऐसा मानने लगते हैं कि हमारी कार्य विधि ही एक उत्तम विधि है और उससे भिन्न मत होना मानलो उस पक्ष का द्रोह करना है। पर इस भावना का केवल यही अर्थ है कि अहंभाव चतुराई से फिर अपने केन्द्र के पूर्व स्थान को प्राप्त हो गया और उसको वहां से हटाने का काम फिर आदि से आरम्भ करना चाहिये। शिष्य को केवल उसी शक्ति की इच्छा करनी चाहिये जिससे वह मनुष्यों की दृष्टि में अति हीनसा-तृणवत् दिख पड़े। जब वह अपने वृत्त का केन्द्र है तब संभव है कि वह अच्छा काम करे पर उसमें सदैव यह भाव रहेगा कि हम करते हैं—या विशेष कर इस भाव से करे कि वह काम हम से होवे। पर जब गुरुदेव केन्द्र में हैं तो वह कार्य केवल इस हेतु से करेगा कि कार्य होवे। कार्य कार्य के हेतु से किया जाना चाहिये न कि कर्त्ता के हेतु से। अपने कार्य को उसे इस दृष्टि से देखना चाहिये कि मानलो उसको किसी दूसरे ने किया हो और दूसरे के कार्य को ठीक ऐसी दृष्टि से देखना चाहिये कि मानो उसे उसने ही

किया है। केवल एक बात ही प्रधान है कि कार्य पूरा पड़ जावे। कौन उसे करता है यह बहुत हलकी बात है। इसलिये न तो उसे अपने निज कृत कार्य के विषय में इतना स्नेह-भाव होना चाहिये न उसे दूसरों के कार्य के विषय अयोग्य कटाक्षभाव आना चाहिये, न उसे अपने कार्य की कपटभाव से इतनी निन्दा करनी चाहिये कि दूसरे लोग उसकी स्तुति करें। रस्किन के शब्दों में उसे शांति पूर्वक यह कह सकना चाहिये कि यह कार्य तुम्हारा हो या मेरा हो या चाहे जिसका हो— यह भी भली प्रकार से हुआ है। थियासोफ़ी के विषय में काम करनेवाले को विशेष करके एक और भय रहता है; वह यह कि योग्य उन्नति बिना ही वह अपने को जगत् से पृथक् होने की बधाई देने लगे। ब्रह्मविद्या (थियासोफ़ी) से प्रत्येक वस्तु का महत्व दूसरे प्रकार का हो जाता है और इस कारण हम स्वभावतः ऐसा समझने लगते हैं कि हम प्रायः सब लोगों से पृथक् हैं। इस स्पष्ट विचार में तो कोई हानि नहीं है। पर कोई कोई मेम्बरों को इस बात का अभिमान हो जाता है कि अकेले हम ही इन बातों को समझ सकते हैं। इससे यह थोड़ा भी सिद्ध नहीं होता कि इस कारण हम औरों की अपेक्षा विशेष अच्छे हैं। और लोगों का विकास दूसरी दूसरी दिशाओं में हुआ होवे और उन उन दिशाओं में वे हम से बहुत आगे होवें यद्यपि हमारी दिशा में कदापि उनकी हम से कुछ कम उन्नति हुई होवे। यह ध्यान में रखना चाहिये कि महात्मा की उन्नति सब दिशाओं में पूरा पूरी हुई रहती है। इस प्रकार

इन दूसरों को हम कुछ सिखा सकते होवें पर हमें उनसे बहुत कुछ सीखने का भी है। किसी मनुष्य को इस कारण तुच्छ समझना कि उसने अभी तक थियासोफ़ी (ब्रह्मविद्या) का ज्ञान प्राप्त नहीं किया और न उस ज्ञान की कीमत समझने का उसमें अभी तक गुण आया है—यह बड़ी भारी मूर्खता होगी। इसलिये इस अर्थ में भी हमको अपने वृत्त के केन्द्र न बनना चाहिये।

भूल कर फिर अपने केन्द्र में खिसक जाने से बचने के लिये एक अच्छी युक्ति सूर्य ग्रहों के उदाहरण को याद रखना है। प्रत्येक ग्रह एक अण्डाकार वृत्त में एक छोटा केन्द्र या नाभि (minor focus) है और उसका बड़ा (major focus) केन्द्र सूर्य में है। तुम इस छोटे केन्द्र के समान हो। तुम अपने मार्ग से जाकर अपना नियत काम करते हो। पर उस सब काल में तुम बड़े केन्द्र के प्रतिबिम्ब मात्र हो और तुम्हारी चेतना सूर्य में स्थित है। क्योंकि जिन गुरुदेव के तुम अंश हो वे बड़े श्वेतसंघ के सभ्य हैं और यह संघ निरन्तर कार्य करता रहता है।

जब मनुष्य अपने वृत्त का केन्द्र बनता है तब वह यह समझने की भूल भी निरन्तर किया करता है कि हम प्रत्येक के वृत्त के भी केन्द्र हैं। वह सदैव यह समझता रहता है कि दूसरे लोग जो कुछ कहते या करते हैं उन सब में वे इसी का विचार या वर्णन करते हैं। बहुतों के मन में यह विचार ऐसा भर जाता है कि उनके मन में यह नहीं आता कि उसके पड़ोसी

अपने २ विचारों में मग्न हैं और उसका लेशमात्र भी विचार नहीं करते। इस प्रकार वह मनुष्य अपने लिये बहुत सा दुःख और चिंता वृथा उत्पन्न कर लेता है। यदि वह बुद्धिमानी के साथ थोड़ा विचार करता तो यह सब न होता। इसके सिवाय अपने वृत्त के केन्द्र बनने के कारण उसे उदासी भी होती है, क्योंकि उदासी उसी को होती है जो अपने विषय के विचारों में मग्न रहता है। यदि उसके वृत्त का केन्द्र गुरुदेव होवें और उनके कार्य करने में उसका सब पुरुषार्थ खर्च होवे तो उदासी के लिये उसे अवकाश ही न मिलेगा न उसके मन की वृत्ति भी उदासी की होगी। क्योंकि जो कार्य उससे सध सके उसके साधनेमें उसकी बहुत रुचि रहेगी। हमारे प्रेसीडेन्ट ने अपने आत्मचरित्र में कहा है कि जब हमें कोई साध्य कार्य दिख पड़े तो साधारण मनुष्यों की नाईं हमें यह न कहना चाहिये कि "हां यह कार्य साधना अच्छा है और इसे कोई भी करे पर उसे हम क्यों करें"। पर उसे यह सोचना चाहिये कि किसी को यह कार्य साधना है तो फिर उसे हम ही क्यों न साधें।

उसके विकास के साथ उसका वृत्त भी बढ़ता जायगा और अन्त में एक ऐसा समय आवेगा जब यह वृत्त अनन्त, सीमारहित हो जायगा। तब एक रीति से वह स्वयं फिर उस वृत्त का केन्द्र बन जायगा क्योंकि वह ईश्वरमय हो जायगा और ईश्वर सब संभाव्य वृत्त का केन्द्र है। जिस वृत्त के अर्द्धव्यास का अन्त नहीं उसमें प्रत्येक बिन्दु केन्द्र ही है।

पशुओं के प्रति हमारा धर्म ।

जब तुम अपने आसपास के मनुष्यों के कल्याणार्थ यथा शक्ति प्रयत्न करते हो तब यह भी ध्यान में रखो कि तुमसे नीचे वर्ग के जीवों के प्रति भी तुह्मारा कुछ कर्तव्य है। उसको साधने के लिये तुम्हें अपने इन छोटे भाइयों को—इन पशुओं को समझने का वैसा ही प्रयत्न करना चाहिये जैसा कि तुम अपने आसपास के बालकों के समझने का प्रयत्न करते हो। यदि तुम किसी बालक को सहायता देना चाहते हो तो उसकी सब वस्तुओं को उसकी दृष्टि से देखते हो। इसी प्रकार यदि तुम पशु वर्ग के विकास में सहायता देना चाहते हो तो पशुओं की दृष्टि से पदार्थों को देखने का प्रयत्न करो। सब जीवों के प्रति हमारा धर्म सदैव प्रेम करने का और सहायता देने का है और उस दिव्य युग को निकट लाने के लिये प्रयत्न करने का है जब सब एक दूसरे को भलीभांति समझ कर भविष्य के दिव्य कार्य में एक दूसरे की सहायता करेंगे।

पालतू पशुओं को मनुष्य की सहायता और सेवा करने में कोई बाधा नहीं पर यह सेवा का काम दुःखमय या अति अधिक न हो। पर हमारे आसपास के सब पशुओं को केवल वही शिक्षा मिलनी चाहिये जो उनके हित की होवे अर्थात् हमें सदैव यह ध्यान में रखना चाहिये कि ईश्वर की इच्छा उनके विकास की उन्नति चाहती है। इसलिये हम अपने पशुओं को जो कुछ सिखाते बने सिखावें क्योंकि इससे उनकी

बुद्धि बढ़ती है। पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हम उनमें अच्छे गुण उत्पन्न करें न कि बुरे। हमारे घरैलु जन्तु कई प्रकार के हैं जैसे कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा और २ जन्तु जो आदि में जङ्गली थे पर अब हमारे पास प्रेम और सहायता के लिये लाये गये हैं। क्यों? इसलिये कि हमारी शिक्षा से उनकी क्रूरता निकल कर उनका जीवन ऊंचे प्रकार का और विशेष बुद्धि भरा हो जावे—ताकि हमारे द्वारा उनमें भक्ति, स्नेह और बुद्धि का विकास होवे।

पर हमें इस बात की बड़ी सावधानी रखनी चाहिये कि हम उन्हें केवल सहायता देवें और उनके विकास में कोई बाधा न डालें। हमें यह देखते रहना चाहिये कि हम अपने कार्य द्वारा उनमें उस क्रूरता की उन्नति न करें जो उनके विकास में निकल जानी चाहिये। उदाहरणार्थ जो मनुष्य अपने कुत्ते को शिकार करना और मारना सिखाता है वह उसमें उन्ही गुणों की वृद्धि करता है जिनके निकल जाने से ही उस पशु का विकास होगा। इस प्रकार वह उस पशु को जो उसे सोंपा गया है सहायता देने के बदले अधोगति को पहुंचा रहा है चाहे वह उसकी बुद्धि की उन्नति करता हो। इस रीतिसे वह चाहे उसकी थोड़ी भलाई करे पर उसी काल में वह उसकी बहुत बुराई भी करता है और यह बुराई उस भलाई से बहुत अधिक होती है। जो मनुष्य अपने माल की रक्षा करने के लिये अपने कुत्ते को क्रूर बनाता है उसके विषय में भी यह कथन सत्य है।

जो मनुष्य किसी पशु के साथ निठुरता या निर्दयता का वर्ताव करता है वह संभवतः उसकी बुद्धि का विकास करता होवे क्योंकि उस निर्दयता से बचने के लिये उस पशु को विशेष तीव्रता के साथ विचार करना पड़े। पर जो कुछ थोड़ा विकास का लाभ इसमें होवे उसके साथ ही साथ भय और घृणा के अति अनिष्ट गुणों की भी वृद्धि उस पशु में होती है। जब ये पशु वर्ग के जीव विकास करते २ मनुष्य योनि में चढ़ेंगे तब उनका आरम्भ भयङ्कर प्रतिबंध या बाधा के साथ होगा। उसका आरम्भ ऊंची इच्छाएं, भक्ति, प्रेम, और नम्रता के बदले इन भय और घृणा के दुर्गुणों के विकास के साथ होगा। जिनके हाथ में इन पशुओं का विकास प्रकृति ने सोंपा था यदि वे अपना कर्तव्य पूरा करते तो ये सद्गुण उन नये मनुष्यों में होते।

इनसे भी नीचे के भूतों (जीवों) के प्रति हमारा कुछ कर्तव्य है। हमको घेरे हुए भौतिक सत्व (elemental essence) है। उसकी उन्नति हमारे विचारों से, और हमारे विचार मन के भाव और विकारों से उत्पन्न जो उस पर क्रिया होती है, उससे होती है। इसके विषय में हमें चिन्ता करनी आवश्यक नहीं है क्योंकि यदि हम अपने उच्च लक्ष्यों को साधें– यदि हम अपने अपने विचार और मन के भावों को उत्तम प्रकार के बनाये रखने की चेष्टा करते रहें तो उससे, और कोई विशेष प्रयत्न के बिना भी इन भौतिक सत्वों ...

नहीं। जिन ऊंचे सद्गुणों को अकेले हम ही पहुँच सकते हैं वे इसमें उत्पन्न होकर और सहायता पाकर विकास पावेंगे।

ऊंचों की सहायता नीचों को मिलेगी ऐसी आशा सारे विकासक्रम में की जाती है। इसलिये पशुवर्ग में अकेले व्यक्तित्व पैदा करने (individualization) के द्वारा ही मनुष्य उनकी सहायता कर सकता हो, ऐसा नहीं है। एटलांटियन युग में उनकी नई नई जातियों के बनाने का काम भी उसके हाथ में विशेष कर सौंप दिया गया था। इस विषय में मनुष्य अपना कर्तव्य बराबर न साध सका और इस कारण बहुतसी वस्तुएं वैसी न बनीं जैसी कि प्रकृति की इच्छा थी। मांसाहारी पशु विशेष कर उसकी भूल से ही हुए। सब मांसाहारी कुछ मनुष्य की भूल से नहीं हुए हैं। लेम्यूरिअन युग के बड़े बड़े शरीरवाले उरग अथवा पेट के बल चलनेवाले पशुओं में भी ऐसे मांसाहारी थे; जिनके विकास में मनुष्य का कोई प्रगट हस्तक्षेप न था। पर उन उरगों से आजकल के स्तनपायी पशुओं के विकास कराने में कुछ अंश तक सहायता करना यह उसका कर्तव्य था। उन नसलों या जातियों को सुधारने का और अपने हस्तगत पशुओं के बुरे गुणों को दबाने का काम उसका था। इस विषय में जितना मनुष्य को तब साधने का था उतना वह न साध सका और इस कारण तब से इस संसार में जो कुछ अनुचित और अनिच्छित हुआ उसके विषय में उसकी जवाबदारी कुछ अंश तक है। यदि

वह अपना कर्तव्य पालता तो संभव है कि मांसाहारी पशुओं का आविर्भाव ही न होता।

मनुष्यजाति ने पशुओं के साथ इतने दीर्घकाल से निर्दयता का वर्ताव किया है कि सारी पशुसृष्टि में मनुष्यों के प्रति भय का और शत्रुता का भाव फैला हुआ है। इस प्रकार मनुष्य जाति ने बड़ा भयङ्कर कर्म बना लिया है जिसके विपाक में उसे नाना प्रकार के रोगों और उन्माद के भयानक दुःख को भोगना पड़ता है। मनुष्य के इतने दुराचरण पर भी यदि उनसे कोई न बोले तो बहुत कम पशु उसे सतावेंगे। उदाहरणार्थ जब तक सर्प को प्रथम चोट या भय न पहुंचे तब तक वह मनुष्य पर चोट नहीं करेगा। कुछ उन जंगली पशुओं को छोड़ जो मनुष्य को अपना भोजन समझते हैं बाकी का भी यही हाल है। जो मनुष्य को अपना भक्ष्य समझते हैं उन्हें यदि दूसरा भोजन मिले तो वे मनुष्य को न छुएंगे। जब तक आत्मरक्षा या दूसरों की रक्षा के लिये हिंसा करना अति आवश्यक न हो तब तक हिंसा न करनी चाहिये क्योंकि इससे प्रकृति के कार्य में बाधा आती है। सच्चे थियासोफिस्ट लोग मांस या मच्छी का भोजन करके या हिंसा द्वारा प्राप्त चर्म और पक्षियों के पंखो का उपयोग करके, हिंसा के पाप का अंश नहीं लेना चाहते, उसका एक कारण यह है। रेशम के निकालने में एक बार सब रेशम के कीड़ों का नाश करना पड़ता था पर अब हम सुनते हैं कि उनके नाश किये विना रेशम प्राप्त कर लेने की एक नई विधि निकली है।

बच्चोंके प्रति हमारा भाव।

अपने बच्चों के प्रति तुम्हारा क्या भाव है? यह याद रखो कि ये जीवात्मा—ईश्वर से निकलीं चिंगारियां हैं। वे तुम्हें इसीलिये नहीं सौंपे गये हैं कि तुम उनपर अपना अधिकार बताकर उनके साथ कठोरता का और पशुता का बर्ताव करो और उनको अपने नफ़े में और फायदे में लगाओ। वे तुम्हें इसलिये सौंपे गये हैं कि तुम उन्हें प्रेम कर और सहायता देकर उनको ईश्वरीय जीवन का अंश बनादो। तो फिर तुममें कितना अधिक प्रेम प्रवाह न होना चाहिये? तुम्हारे धैर्य और दया के भाव कितने अधिक न होना चाहिये? उन जीवों की इस प्रकार सेवा करने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त होने पर तुम्हें उसका कितना महत्व न होना चाहिये। यह भी ध्यान में रखो कि न तुम स्याने हो और न वे बालक हैं। जीवात्माओं के हिसाब से दोनों प्रायः समान वय के हो। इस कारण तुम्हारा भाव स्वार्थ निर्दय अविचारी हुक्मदेनेवाले का न होना चाहिये पर सहायक मित्र का। जब तुम्हारा मित्र नया कोट पहिनता है तब तुम उसे कुछ नई दृष्टि से नहीं देखने लगते हो। इसी प्रकार याद रखो कि जब तुम बालक को मिलते हो तो तुम नये कोटधारी जीवात्मा से भेंटते हो। इसलिये तुम्हें चाहिये कि तुम पूर्ण दया और प्रेम का बर्ताव कर उसमें जो उत्तम गुण हों उनको प्रगट करवाओ और उसे अपना नया कोट अर्थात् अपना नया शरीर अपने योग्य बनाने

में सहायता हो। यह भी सदैव ध्यान में रखो कि असली भलाई वह है जिससे सबकी भलाई हो। दूसरों को दुःख देकर कभी लाभ नहीं हो सकता। जो लाभ इस प्रकार उठाया जाता है वह सच्चा लाभही नहीं है।

सहकारिता।

ईश्वर की यह इच्छा है कि मनुष्यजाति विकास क्रम के मार्ग में एक स्थान पर पहुंचने पर खुद अपनी संभाल आप कर सके। इस कारण अब भविष्य के सब बुद्ध, मनु और महात्मागण हमारी मनुष्यजाति में से ही होवेंगे। जो देव शुक्र लोक से हमारी सहायतार्थ आये थे वे दूसरे लोकों को चले गये। इसलिये ईश्वर हम सब की सहायता की, तुम्हारी और हमारी सहायता की, बाट देखता है। हममें ९९ दोष होवें और एक सद्गुण होने पर यदि उस एक सद्गुण की इस ब्रह्मविद्या समाज के कार्य में आवश्यकता होगी (और किस सद्गुण की आवश्यकता नहीं है?) तो हमको उसके उपयोग करने का प्रसंग अवश्य मिलेगा।

इसलिये हमारे सहकारी जो कुछ कार्य कर सकते हैं उसके लिये हमें उनकी कीमत करना चाहिये और जो वे नहीं साध सकते उसके लिये उनकी निरन्तर निन्दा न करनी चाहिये। बहुत से मनुष्यों ने अपने पुण्य द्वारा कोई विशेष प्रकार का काम करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है चाहे उनमें सद्गुणों की अपेक्षा दुर्गुण बहुत अधिक हों। लोग अपना कार्य दूसरों

के कार्य से मिलान करने में और यह इच्छा करने में कि उन्हें उन दूसरोंके अवसर मिलते, दुःखभरी भूल करते हैं। सत्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य के गुण और शक्तियां भिन्न २ हैं और किसी से यह आशा नहीं की जाती कि वह किसी दूसरे के बराबर कार्य करे। उसे अपनी शक्तिभर उत्तम प्रकार का कार्य करना चाहिये।

गुरुदेव ने एक प्रसंग पर कहा है कि वास्तव में केवल दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक तो वे जो जानते हैं और दूसरे वे जो नहीं जानते। जानने वाले वे हैं जिनने प्रकाश को देख कर उसकी ओर अपना मुख फेर लिया हो। ये चाहे जिस धर्म से आये हों और प्रकाश से ये अभी चाहे जितनी दूर पर क्यों न हों इनबातोंका कुछ महत्व नहीं है। प्रकाश की ओर आने में उनमें से बहुतसों को बहुत कुछ कष्ट सहना पड़ता हो पर उनके सामने निदान आशा तो है। हम उनके साथ पूर्ण सहानुभूति रख कर उनको सहायता देने का प्रयत्न करते हैं पर हमें यह भी ज्ञान रहता है कि इनकी स्थिति सब से खराब नहीं है। वास्तव में दया तो उन लोगों पर आनी चाहिये जो सब ऊंचे विचारों की ओर अनादर की दृष्टि रखते हैं—वे जो ऊंचे जीवन का प्रयत्न नहीं करते क्योंकि वे जानते नहीं या सोचते नहीं या यह जानने की परवाह ही नहीं करते कि कोई प्रयत्न करने योग्य ऊंची वस्तु है। वास्तव में ऐसे लोगों को "बड़ी अनाथ मनुष्यजाति" की संज्ञा दी जाती है।

जीवन का एक दिन।

एक हद से अधिक एक ही विषय का असाधारण ज्ञान संपादन करना भी बुद्धिमानी का काम नहीं है क्योंकि किसी विषय के ज्ञान का अन्त तो कोई पा ही नहीं सकता और ऐसे असाधारण ज्ञान से मन और दृष्टि कुंठित हो जाती है। उससे एक देशीय और विकृत उन्नति होती है और मनुष्य प्रत्येक वस्तु को उसके योग्य प्रमाण की दृष्टि के बदले भिन्न दृष्टि से देखने लगता है। हम लोग एक जीवन काल को दीर्घ अवधि समझते हैं पर वास्तव में यह बड़े जीवन का एक दिन मात्र है। एक दिन में तुम किसी बड़े कार्य को समाप्त नहीं कर सकते। उसके पूरा करने में कई दिन लगें और किसी दिन में कुछ विशेष भाग किया हुआ न दिख पड़े पर उतने पर भी प्रत्येक दिन का कार्य उस बड़े कार्य के साधन में आवश्यक है। यदि मनुष्य दिन प्रति दिन यह समझ कर आलस्य करे कि कार्य के पूरे करने में बहुत बड़ा काल लगेगा तो वह उस कार्य को कभी भी साध न सकेगा।

बहुतसे ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें थियासोफ़ी का ज्ञान जीवन में देरी से मिलता है, जो यह विचार कर कुछ निरुत्साह से हो जाते हैं कि अपना सुधार करने के लिये, अच्छा कार्य साधने के लिये, अब बड़ी देरी हो गई और अब इस जन्म को शांतिपूर्वक काट कर दूसरे जन्म में अच्छा मौका मिलनेकी आशा करनी चाहिये।

यह दुःखभरी भूल है और इसके कारण कई हैं। तुम्हें यह नहीं मालूम कि कर्म तुम्हारे लिये दूसरा जन्म कैसा बनाता है। तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि तुमने कोई ऐसा कर्म किया है जिसके विपाक में तुम्हें थियासोफ़ी नाम की ब्रह्मविद्या का सहवास नये जन्म में मिल सकेगा। ऐसा जन्म प्राप्त करने के लिये उत्तम उपाय तो यह है कि जो मौका तुम्हें अभी मिला है उसका पूर्ण लाभ उठाओ। इस कार्य कारण के नियम का जो ज्ञान अभीतक मिला है उसमें यह बात बहुत स्पष्ट रीति से देखी जाती है कि एक मौके का योग्य लाभ उठाने से अवश्यमेव दूसरा बड़ा मौका कर्म विपाक में मिलता है। इसलिये यदि तुमको जो मौका अभी थियासोफ़ी के संबंध से मिला है उसका पूरा लाभ न उठाओगे और उसे त्याग देओगे तो संभव है कि ऐसा प्रसंग तुमको दूसरे जन्म में फिर न मिले।

यदि मनुष्य उत्साहपूर्वक प्रयत्न कर अपने जीवन को ब्रह्मविद्या के विचारों से परिपूर्ण बना देवे तो उससे वे विचार बहुत कुछ उसके जीवात्मा में प्रवेश कर जावेंगे और उनकी ओर उसका आकर्षण इतना अधिक हो जावेगा कि दूसरे जन्म में वह उन्हें स्वभावतः ढूंढ़ेगा और पहिचान लेवेगा; चाहे उसे उस दूसरे जन्म में उनकी विधिवार खबर न बनी रहे। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को थियोसोफ़ी का ज्ञान होने पर तुरन्त ही उसके सम्बन्ध के कार्य आरम्भ कर देना चाहिये क्योंकि जितना कुछ वह साध सकेगा—चाहे वह थोड़ा क्यों न हो—

वह इच्छा ही फल देवेगा और जहां इस जन्म में इस कार्य को छोड़ेगा वहीं से दूसरे जन्म में वह उसका आरम्भ करेगा। और उसके छाप यदि कड़े हैं और उन पर कम असर पड़ता है तो उनको यथा शक्ति सुधारने का प्रयत्न करने से उसको दूसरे जन्म में विरुद्ध कोमल छाप मिलने की बहुत कुछ संभावना हो जायगी। इस प्रकार कोई प्रयत्न वृथा नहीं जाता और इस लंबी चढ़ाई की यात्रा का और दूसरों को सहायता देने के निःस्वार्थ काम का किसी भी जीवन में कितनी भी देरी से आरम्भ करना अयोग्य न होगा।

जब हमारे सामने अनन्त जीवन बाकी है तब इस विषय की चिन्ता करना कि इस जीवन की संध्या आ चली या निराशा से आते जन्म की तैयारी में यथोचित ध्यान न देना, यह भूल की बात है। मार्ग प्रकाशिनी में लिखा है कि जीवन की इच्छा का नाश करो। इसका अर्थ समझने में भूल होती है। तुम अपना जीवन तो खो नहीं सकते तो फिर उसकी इच्छा तुम्हें क्यों होनी चाहिये। उसे कोई छुड़ा ही नहीं सकता। इस सूत्र का यह भी अर्थ है कि तुममें किसी विशेष जीवन की जो स्थिति है उसकी इच्छा न होनी चाहिये।

ध्यान।

हमारी समझ में हमारे मेम्बर कभी २ ध्यान के विषय में भूल करते हैं क्योंकि उन्हें पूर्ण रीति से यह नहीं मालूम कि ध्यान का क्या असर होता है। कभी २ वे समझते हैं कि यदि

ध्यान के अन्त में उन्हें आनन्द और उच्च स्थिति को प्राप्त होने का अनुभव नहीं हुआ था उन्हें सुस्ती और भारीपन का या ध्यान करने की अयोग्यता का भान हुआ तो वह ध्यान असिद्ध और सर्वथा बेकाम हुआ। उन्हें किसी भी वस्तु की सत्यता का निश्चय नहीं रहता और वे यह समझते हैं कि हमारी उन्नति नहीं होती। वे कल्पना करते हैं कि यह हमारा ही दोष है और वे इसके लिये अपने को दोष देते हैं। वे बहुधा यह पूछते हैं कि इस दोष को मिटाने के लिये और पूर्व का आनन्द फिरसे प्राप्त करने के लिये हमें क्या करना चाहिये।

सत्य तो यह है कि ध्यान के विषय में ऐसा अनुभव सब आत्मजीवन ढूंढ़नेवालों को होता है। ईसाई धर्म के संत लोग भी इस आत्म विषय की शुष्कता के समय के अपने दुःख का वर्णन करते हैं। उन्हें इस काल में ऐसा बोध होता है कि ईश्वर हमसे लोप हो गया और अब किसी भी वस्तु से कुछ लाभ नहीं मिलता। कल्पना करो कि हम अपनी चौड़ी खिड़की में से एक सुन्दर पहाड़ को देख रहे हैं पर आकाश में काला बादल घना छाया है और यह मेघावरण मीलों लम्बा है। हमको इस कारण सूर्य के दर्शन तीन दिन से नहीं हुए। उनकी किरणों का भान हमको नहीं होता पर हमें यह ज्ञान तो है कि सूर्य हैं और कुछ दिनों में ये बादल भी पूर्व के बादलों के समान चले जांयगे और हमको सूर्य के फिर दर्शन होंगे। जगत् के जीवन के लिये इसी बात की आवश्यकता है कि सूर्य बने रहें न कि इसकी, कि हम उन्हें देखें। उनके दर्शन से और

उनके किरणों की कल्पना का अनुभव करने से निस्सन्देह बहुत आनन्द होता है पर यह जीवन की आवश्यकता नहीं हैं। हमें इन लोगों के मन की स्थिति ठीक २ मालूम है और उन्हें यह कहने से बहुत कम संतोष होगा कि तुम्हारे मन के भावों से इस विषय में कुछ प्रयोजन नहीं है। पर यह बात एक रीति से बिलकुल सत्य है।

हमारी समझ में यह ध्यान में रखने से ठीक होगा कि हमारे ध्यान के कई लक्ष्य हैं— जैसेः—

१ इस बात का साधना कि संसार के कार्य में हम कितने ही मग्न क्यों न हों पर प्रतिदिन हम निदान कुछ समय तक ऊंचे लक्ष्य संबंधी विचारों को विचारें।

२ हम गुरुदेव और ईश्वर के विशेष निकट पहुंचें ताकि उनसे शक्ति का प्रवाह हममें हो और वह प्रवाह हममेंसे जगत् के कल्याणार्थ जावे।

३ अपने ऊंचे कोषों को इस बात का निरंतर अभ्यास करावें कि वे अति ऊंचे कंपों से कंपित होते रहें अर्थात् जैसा अभ्यास स्थूल शरीर को प्रतिदिन की योग्य प्रकार की कसरत से पड़ जाता है वैसा इन कोषों को भी होवे।

अब तुम्हें दिख पड़ेगा कि चाहे तुमको आनन्द आवे या न आवे पर ये सब लक्ष्य ध्यान से सदैव वैसेही सधेंगे। इस प्रकार की हमारी कल्पना में भूल है कि जब हमको ध्यान असंतोषजनक मालूम पड़ता है तब वह बिलकुल बेकाम और असमर्थ होता है। जैसे बालिका को प्रतिदिन अपने सितार पर

एक घंटा अभ्यास करना पड़ता है ठीक वैसाही यह भी है। कभी कदाचित् उसको इस अभ्यास में कुछ आनन्द आवे पर बहुधा उसे इससे त्रास आता है और उसकी यही इच्छा रहती है कि इसको कितने शीघ्र पूरा करें। उसे यह बात नहीं मालूम कि ऐसे प्रत्येक घंटे के अभ्यास से उसकी उंगलियों को उस यंत्र की आदत पड़ती है और उस बालिका का ऐसा समय विशेष निकट आता जाता है जब उसे उस संगीत से ऐसा आनन्द प्राप्त होगा जिसका उसे अभी स्वप्नमें भी भान नहीं है। तुम विचार सकते हो कि यह अभीष्ट तो बराबर सधता है चाहे उस घंटे में उस बालिका को त्रास का भान हो या आनन्दका। इसी प्रकार हमारे ध्यान में कभी हमें आनन्द और शांति का बोध होता है और कभी नहीं होता पर दोनों अवस्थाओं में उसकी क्रिया हमारे ऊंचे कोषों पर बराबर होती रहती है जैसी कि कसरत से हमारे स्थूल शरीर पर होती है। आनन्द देनेवाला ध्यान हो तो अच्छी बात है पर उसमें और दूसरे में केवल यही अन्तर है कि तुम्हारे मन के भावों पर उसका फल दूसरे प्रकार का हुआ। तुम्हारी उन्नति की क्रिया में दोनों में कोई भेद नहीं है।

ध्यान में जो कुछ काल के लिये सुस्ती आ जाती है उसका कारण हममें सदैव नहीं रहता अर्थात् उसमें हमारा दोष कोई कारण नहीं होता। बहुधा तो यह दशा विशेष थकावट से या चितादि से होती है। अथवा कई बार यह दशा हमारे चहुंओर की भुवर्लोक की या स्वर्लोक की प्रकृति के प्रभाव के कारण से

होती है। इनके वश में पड़ना यह हमारे प्रारब्ध का फल है। पर यथाशक्ति इनका अच्छा उपयोग करना चाहिये और उनसे उदासी को प्राप्त होना या अपना दोष निकालने में वृथा समय खोना ठीक नहीं है।

एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि किसी समय ग्रहों का फल ध्यान के लिये विशेष सहायकारी हो और किसी समय न हो। हमें स्वयं इसका कुछ ज्ञान नहीं है क्योंकि हमने ध्यान के विषय में ग्रह फल की कुछ परवाह नहीं की है और अपना लक्ष्य साधा है; पर हमारे एक मित्र को किसी ज्योतिषी ने कहा था कि अमुक प्रसंग पर वृहस्पति और चन्द्र के योग से ईथर का आवरण फैल जाता है जिस कारण ध्यान में सरलता का बोध होता है अथवा ध्यान विशेष सिद्ध हुआ जान पड़ता है। उस ज्योतिषी ने उसे ऐसे योगों की एक फ़ेहरिस्त दी थी। इस मित्र ने अपने ध्यान का ३-४ सप्ताह का हाल लिखने के पश्चात् उस फेहरिस्त से मिलाया तो फल उससे मिला। ऐसा भी कहा गया था कि शनिश्चर की कोई कोई स्थिति में ईथर आवरण विशेष घना हो जाता है जिससे ध्यान में विशेष कठिनाई प्रतीत होती है। इसकी जांच भी उसी प्रकार की गई थी।

ऊंचे से ऊंचा विचार हमको जगदीश्वर का हो सकता है पर हमें ऐसी कल्पना न करनी चाहिये कि हमारे विचार करने से ईश्वर के हमारे प्रति के भाव में किसी प्रकार का भेद पड़ता है। ईसाई धर्म में जो अज्ञानी हैं वे ऐसा सोचते हैं। हम

जिज्ञासुओं को ऐसा विचारने की अवस्था से तो बहुत ऊंचा पहुंच जाना चाहिये। पर यदि हम अपनी चेतना ईश्वर की ओर फेरें तो उससे हमको अवश्य लाभ होगा। यदि तुम अपने कमरे की खिड़की खोल कर सूर्यप्रकाश को भीतर आने दोगे तो तुम्हारे कमरे की स्थिति बहुत कुछ बदल जायगी पर तुम्हारे खिड़की खोलने से सूर्य में कोई भेद नहीं हुआ। सो तुम अपने आत्मा की खिड़कियों को ईश्वर के लिये खोल दो।

ध्यानकाल में मनुष्य सोचे कि ईश्वर सब में और सब ईश्वर में हैं। आत्मा रूपों में से प्रगट होने का प्रयत्न किस प्रकार कर रही है इस बात को समझने का प्रयत्न करो। इस अभ्यास की एक विधि यह है कि मनुष्य अपनी चेतना दूसरे जंतुओं से मिला देवे जैसे मक्खी चींटी या वृक्ष से। जैसे ये वस्तुओं को देखते हैं या अनुभवते हैं वैसे ही तुम भी देखो या अनुभवो यहां तक कि जब तुम ऐसा प्रयत्न करते बहुत भीतर पहुँचते हो तो वृक्ष या कीड़ेकी सब चेतना मिटकर केवल ईश्वर के जीवन की चेतना रह जाती है। वृक्ष या चींटी से हम बहुत ऊंचे हैं इसलिये इस प्रयोग के पूर्ण हो जाने पर हमें अपनी चेतना उनमें से खींच लेने में किसी प्रकार की बाधा न होगी। वास्तव में हम अपनी चेतना को उनमें बन्दी नहीं करते। हम उसे इतनी फैलाते हैं कि उसमें हर एक रूप की आत्मा का समावेश होवे। जो मनुष्य ऐसा प्रयोग प्रथम बार करता है उसे यह जान कर बहुत आश्चर्य होता है कि जानवरों को

कितनी रुकावटें रहती हैं। पूर्व में उसे भान होता था कि अमुक पशु ने अमुक प्रकार का आचरण अमुक स्पष्ट कारणों से किया पर जब वह उस पशु की चेतना में प्रवेश करता है तब उसे मालूम हो जाता है कि उसकी इच्छा और अभिप्राय और ही कुछ थे। शिष्य को यह अनुभव नीचे मनुष्यों के सम्बन्ध में भी प्राप्त करना पड़ता है क्योंकि उसके बिना वह उन्हें पूर्ण सहायता नहीं पहुंचा सकता।

इससे हम आत्मतत्व के दृढ़ पद को पहुंच जाते हैं। उससे निर्जनता और अन्धकार का भान, जो बहुधा हमें हमारी उन्नति के एक पद पर होता है, निकल जाता है। जब हमें यह निश्चय हो गया कि हम सर्वव्यापी आत्मतत्व के अंश हैं तब इस बात की विशेष चिन्ता हमें नहीं रहती कि उस आत्मतत्व का हमारा अंश कहां है या उसे क्या अनुभव होता है। हमें कितनी ही निर्जनता का बोध क्यों न हो हमको सदैव यह ज्ञात रहता है कि हमारे गुरुदेव यथासाध्य सहायता देने को सदैव तत्पर बैठे रहते हैं। विशेष २ रूपों की आसक्ति को त्याग देना चाहिये और ईश्वर इच्छा साधने के सिवाय हमारा और कोई अभिप्राय न रहना चाहिये। निर्जनताके बोध के कारण हमें गुरुदेव को न भूलना चाहिये न उनमें हमारी श्रद्धा कभी कम होनी चाहिये। क्योंकि जिन गुरुदेव की सेवा करने का हमने निश्चय किया है उनमें जबतक हमें पूर्ण श्रद्धा न होगी तबतक कुछ भी उन्नति न होगी। यदि हमारी श्रद्धा आधी और लंगड़ी है तो हमारी उन्नति नहीं हो सकती। हम न चाहें तो अपने

गुरुदेव को न चुनें पर जब एक बेर उन्हें चुन लिया तो उनमें और उनके उपदेश में हमको श्रद्धा अवश्य रहनी चाहिये।

चित्त के संयम करने में प्रथम इन्द्रियों को बाहरी शब्द और दृश्यों से हटा लेना चाहिये। दूसरों से आते विचार और भाव तरङ्ग के प्रति हमारी इन्द्रियां जड़ या अग्राही हो जावें। यह साधना कुछ सरल है पर दूसरा पद बड़ा कठिन है। क्योंकि जब बाह्य विषयों से इन्द्रियां हट जाती हैं तब चित्त की वृत्तियां संयम में न रहने के कारण क्रियावान् होकर बाधा डालती हैं। आरम्भ करनेवालों के ध्यान में प्रायः पूर्व स्थान को फिर प्राप्त होने का ही युद्ध लगातार बना रहता है। "वायस आफ दि साइलेन्स" नाम के ग्रंथ में ऐसे प्रसंग के लिये एक उपयोगी सलाह यह है, "मन सत्य का नाश करनेवाला है तुम इस नाश करनेवाले को मार डालो"। तुम्हें अपने मन का नाश तो न कर डालना चाहिये क्योंकि उसके बिना जीवन नहीं हो सकता पर उस पर तुम्हारा अधिकार अवश्य होना चाहिये। वह तुम्हारा है; तुम उसके नहीं हो। मन के भ्रमण को जीतने के लिये इच्छा शक्ति को उपयोग में लाना चाहिये। अकसर यह सलाह दी जाती है कि शिष्य को अपने आसपास ऊंची प्रकृति का एक कोष या कवच बना लेना चाहिये पर यह अन्त में लंगड़े की लकड़ी होती है। तुम अपनी इच्छा शक्ति को बढ़ाओ तो तुम इन लकड़ियों को त्याग सकोगे। तुम्हारा लिंग शरीर भी तुम पर उसी प्रकार का अधिकार जमाना चाहता है और तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता है कि उसकी

इच्छाएं तुम्हारी इच्छाएं हैं पर उसके ऊपर भी तुम्हें अपना वैसा ही अधिकार जमाना चाहिये।

इच्छा शक्ति को बढ़ाने की कोई सीमा नहीं है। स्थूल शरीर की शक्ति के बढ़ने की हद तो अवश्य है पर इच्छाशक्ति के विषय में कोई हद नहीं दिखती। सौभाग्य से अपने प्रतिदिन की साधारण छोटी बातों में और दिनभर हम अपनी इच्छा शक्ति को बढ़ा सकते हैं और इससे बढ़ कर दूसरा अच्छा अभ्यास नहीं है। मनुष्य समूह के सामने नाटक की रीति से किसी धर्म विषय में प्राण त्याग करने के लिये साहस करना एक रीति से सरल है पर थकानेवाले मनुष्यों के साथ थकानेवाला व्यवहार दिन प्रतिदिन और वर्ष प्रतिवर्ष करते रहना विशेष कठिन है। पूर्व की अपेक्षा इस पिछले में विशेष कड़ी इच्छाशक्ति चाहिये। पर यह सावधानी रखो कि अपनी इच्छाशक्ति बढ़ाने के प्रयत्न में तुम दूसरों को पीड़ा तो नहीं पहुंचाते। कभी २ लोग थियासोफिकल समाज के संबंध में कार्य करने के लिये घर बार त्याग कर और सब प्रकार की अड़चनें उठाकर अपनी इच्छाशक्ति बताते हैं। यदि ऐसा करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है तो ऐसा करना बहुत ठीक है। पर यदि कोई मनुष्य अपनी स्त्री या कुटुम्ब को छोड़े या कोई एकलौता पुत्र अपने ऊपर आश्रित माता पिता को छोड़े तो ये लोग प्रत्यक्ष में अपने कर्तव्य का ऐसा त्याग करेंगे जैसा त्याग करने का अधिकार उत्तम हेतु के लिये भी किसी को नहीं है।

दृढ़ संकल्पयुक्त ध्यान से हमारे कोषों में ऊंचे प्रकार की प्रकृति का समावेश होता है। इस स्थिति में बहुधा बुद्धिलोक के अति ऊंचे मनोभावों का प्रतिबिम्ब लिंगशरीर में पड़कर हमारे मन में आता है और हमको उन ऊंचे भावों का मन में अनुभव होता है। उसके प्रभाव से हम उत्तम कार्य साध सकें और प्रचण्ड स्वार्थ त्याग कर सकें। पर उस समय इस भाव को स्थिर करने के लिये मनके और बुद्धि के कोषों को उन्नति की आवश्यकता पड़ती है नहीं तो जिन उच्च भावों ने हमसे अच्छा कार्य कराया है वे थोड़े मुड़कर हमको कोई दूसरे हलके मार्ग में ले जा सकते हैं। अकेले भावों की सहायता से ही हमको पूर्ण समता या निश्चलता नहीं प्राप्त हो सकती। अच्छे भावों का आना उत्तम बात है और वे जितने अधिक आवें उतनाही अधिक अच्छा है; पर इतने से कार्य नहीं सधता। ज्ञान और स्थिरता का आना भी आवश्यक है क्योंकि इनके द्वारा हम ठीक मार्ग में जाते हैं और हम को चालक बल भी मिलता है। बुद्धि कोष का अर्थ ही ज्ञान है और उसके आनेपर और सब कुछ उसमें लय हो जाता है।

ज्ञान प्रकाश प्राप्त होने से तीन भिन्न २ बातें हो सकती हैं। प्रथम तो किसी विषय का सावधानी से और बहुत एकाग्रता से मनन करने से उसके विषय में वह कुछ निश्चय स्थिर कर सके। दूसरे वह अपने ऊंचे मन (higher self) से उस विषय में कुछ प्रकाश पाने की आशा कर सकता है—यह जानने को, कि जीवात्मा उस विषय में अपने निज लोक में क्या

विचारता है। तीसरे बहुत उन्नति किया मनुष्य महात्मा या देवों को प्राप्त हो सकता है। केवल प्रथम अवस्था में उसके विचाररूपों के असर से उसके निश्चय में भूल हो सकती है। उसके ऊंचे मन पर या महात्मा या देव पर इनका कुछ विकार न होगा।

इन तीनों विधियों से वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान मिलने में कोई अड़चन नहीं आती। पर हमें ध्यान में रखना चाहिये कि ज्ञान जमा करके हमें उसे स्थूल मगज़ में लाना है और वहां उतारने से उसमें हमारे दुराग्रह या दूसरे कुविचारों से विकार होने लगता है। ध्यान काल में हम क्या साध सकते हैं यह बात इस पर निर्भर है कि हम दिन भर क्या करते रहते हैं। यदि साधारण जीवन में हमने अपने में दुराग्रह भर रखा है तो ध्यान काल में हम उनसे नहीं बच सकते। पर यदि हमारा प्रयत्न निरन्तर उनको निकाल डालने का और यह सीखने का रहे कि दूसरों की रीति भी हमारे समान ही अच्छी है तो उससे हम में निदान सहनशीलता का भाव तो आता है जिसका प्रभाव ध्यानकाल में भी पड़ता है। किसी नये विचार या प्रस्ताव के दोष तो हमको सरलता से दिख पड़ते हैं। वे आंखों के सामने आन खड़े होते हैं। पर उसमें जो कुछ भलाई हो वह भी हमें देखनी चाहिये। वह ऐसी सरलता से प्रगट नहीं होती।

ध्यानकाल में भी जीवात्मा हमारे शरीराभिमानी व्यक्तिभाव को वैसी ही दृष्टि से देखता है जैसा और काल में

अर्थात् उसके प्रति उसका भाव थोड़े तिरस्कार का रहता है। तुम्हारा ध्यान कुछ तुम्हारे जीवात्मा के लिये तो नहीं है पर इस हेतु से कि तुम्हारे सब कोष जीवात्मा के लिये अच्छी नाली या मार्ग बन जावें। यदि जीव की कुछ भी उन्नति हुई है तो वह भी अपने लोक में ध्यान करेगा पर उसका यह अर्थ नहीं है कि उसका ध्यानकाल और हमारे स्थूल शरीर के ध्यानका काल एकही होवे। जो बल उतरता है वह जीव का तो है पर केवल अंशमात्र। इस कारण उससे वस्तुओं का एक देशीय ज्ञान होता है। उन्नतिप्राप्त जीव के योग में चेतना को बुद्धि लोक में और उसके और ऊंचे अन्तर्खंडों में चढ़ानेका प्रयत्न होता है। जीव अपना यह कार्य करते समय यह विचार नहीं करता कि शरीराभिमानी व्यक्तिभाव (अर्थात् नीचे मन की चेतना) उस समय क्या कर रहा है। ऐसा जीव स्थूलशरीर के ध्यान में अपना थोड़ा अंश नीची चेतना में भेजेगा पर उसका ध्यान बिलकुल अलग है।

जीवात्मा की शक्तियों के विकास के लिये विचारशक्ति का संयम प्रथम साधन है। विचार संयम साधने पर और इच्छा शक्ति के कड़े होने पर नाना दिशाओं में बहुत कुछ सध सकता है। जीते और मरे हुओं को बहुत कुछ सहायता दी जा सकती है और जो बीमार हैं या दुःख में हैं उनको बहुत कुछ सहायता और बल दिये जा सकते हैं। ध्यान के सिवाय प्रत्येक मेम्बर को प्रतिदिन कुछ समय अपने परिचित मनुष्यों के पास ऐसे विचार भेजने में व्यतीत करना चाहिये। जब कुछ मनुष्य

इकट्ठे ध्यान करते हैं तो उसमें भी यही कार्य किया जा सकता है। सब मिल कर कुछ क्षण के लिये अपना इकट्ठा विचार किसी ऐसे मनुष्य के पास भेज सकते हैं जो दुःख में हो और उसके साथ ही उसको आश्वासन और हिम्मत देने का कड़ा प्रयत्न किया जा सकता है। इसी शक्ति के दूसरे प्रकार के उपयोग से बहुधा रोग भी आराम हो सकते हैं।

भुवर्लोक की दृष्टि और श्रवण शक्ति प्राप्त करना यह अंतिम लक्ष्य तो नहीं समझा जाता पर दूसरे कार्य साधने के हेतु इन शक्तियों का विकास किया जाता है। उत्तम रीति तो यह है कि हममें जो शक्तियां अभी हैं उनका हम पूर्ण उपयोग करें और अध्ययन और परोपकारी कार्य के करने से जो दिव्य दृष्टि आदि शक्तियां आगे विकसित होंगी उसके लिये ठहरें। इन शक्तियों से निस्सन्देह सहायता तो मिलती है पर यदि स्वभाव शुद्ध नहीं हुआ है तो उनसे जोखिम भी हो सकती है। जो इन सिद्धियों को जगाना चाहते हैं उनके लिये हम "अदर-साइड आफ डेथ" नामक ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में कही विधि की सिफारिश करते हैं।

यदि बन सके तो ध्यान के लिये एक कमरा अलग रख छोड़ना अच्छी बात है। यदि ग्रूप अथवा कुछ मेम्बर उत्साह भरे और एक समान, मेलवाले हैं तो उनकी सभा भी ऐसे कमरे में हो सकती है पर यदि उनमें आपस में विवाद या बहस हो तो ऐसी सभा उस कमरे में न करनी चाहिये। ऐसे कमरे में मध्यम (medium) या नाजुक पुरुषों के द्वारा प्रेता-

वाहन प्रयोग न करना चाहिये। तुम्हारा प्रश्न है कि क्या उद्विग्न अवस्था में ऐसे कमरे में प्रवेश करना चाहिये। उद्विग्न होओ नहीं। उद्विग्न होने की संभावना को अंगीकार ही न करो। ऐसा विचार रूप न बनाओ कि हम उद्विग्न हैं इसलिये इस कमरे में हम प्रवेश न करें। इसके बदले विपरीत विचार करो कि हम इस कमरे में प्रवेश करते हैं इसलिये हम अब उद्विग्न नहीं हैं। तुम्हें इस विचार से अधिक सहायता मिलेगी।

चतुर्थ खंड।

ऊंचे लोक।

निर्वाण।

ऐसा अकसर बताया गया है कि परम पद की अवस्था में सब जीवात्माओं को परमात्मा में लीन हो जाना पड़ता है। दूसरे कथनों से ऐसा मालूम पड़ता है कि व्यक्तिभाव किसी न किसी रूप में बड़ी ऊंची अवस्थाओं में भी बना रहता है। हमारे पाठकों को इन दो बातों को मिलाने में अड़चन पड़ती है। असल बात यह है कि हमारे सब अनुभवों से और हमारे मरज़ की कल्पनाओं वा विचारों से निर्वाणलोक और उसके ऊपर के लोकों की तेजोमय सत्यता का हाल किसी प्रकार प्रगट नहीं हो सकता। उस अलौकिक कीर्ति का हम लोगों को बहुत थोड़ा हाल मालूम है और जो कुछ मालूम भी है उसका योग्य वर्णन किसी प्रकार नहीं हो सकता। परन्तु यह कहना कि जीवात्मा परमात्मा में लय हो जाता है कदापि एक रीति से भ्रम पैदा करनेवाला होवे। प्रत्येक जीवात्मा मूल रूप में तो ईश्वरीय त्रिमूर्ति की एक चिंगारी या एक अंश है। जिसका जो अभी भी अंश है वह उसमें कैसे लीन होवेगा। जो क्रिया वास्तव में होती है उसको ऐसा कहना विशेष सही होगा कि मनुष्य के विकास होने पर चिंगारी बढ़ कर ज्वाला रूप हो जाती है। जीवात्मा और परमात्मा की जो एकता है उसका भान मनुष्य के विकास के अनुसार बढ़ता जाता है। इस

प्रकार उस मनुष्य में उन्नति के अनुसार ईश्वर दिन पर दिन विशेष प्रगट होता जाता है।

निदान हम इतना तो कह सकते हैं कि जहां तक हम योगाभ्यासियों की चेतना पहुंच सकती है वहां तक अर्थात् निर्वाण लोक में भी व्यक्तित्व का नाश नहीं होता। वहां भी सोचने की, उपाय करने की, और क्रिया करने की शक्ति बनी रहती है। इस पद के बहुत पूर्व ही भेद बुद्धि का पूर्ण नाश हो जाता है पर यह बिलकुल दूसरी बात है। सर एडविन आरनोल्ड निर्वाण अवस्था के विषय में कहते हैं कि "ओस की बूँद प्रकाशमय समुद्र में जा मिलती है।" पर जिनको इस अति आश्चर्यजनक अवस्था का अनुभव हुआ है उनका कथन है कि असल अनुभव इसका बिलकुल उलटा है और यह कहना बहुत सही होगा कि सारा समुद्र किसी प्रकार बूंद में प्रवेश कर जाता है चाहे यह बात असत्य सी भासे।

यह बात सत्य है कि वह समुद्र समान विस्तारवाली चेतना वर्तमान है "जिसका केन्द्र सर्वत्र है और जिसकी परिधि (छोर) कहीं भी नहीं है।" पर जब मनुष्य उसको प्राप्त होता है तब उसे ऐसा भान होता है कि हमारी चेतना इतनी बढ़ गई है कि उसमें सब कुछ समा गया है। ऐसा नहीं भासता कि हम किसी दूसरी वस्तु में लय हो गये हैं। और यह भान सत्य है क्योंकि अज्ञान वश हो मनुष्य जिसको अपनी चेतना मानता है वह तो उसकी कभी थी ही नहीं पर ईश्वरीयशक्ति ज्ञान और प्रेम का उसमें से प्रगट होता प्रकाश था। उसे

अब इस चेतना को पाकर उस अति विशाल बात का ज्ञान हो जाता है। असल बात तो यह है, व्यक्तित्व का और अहंभाव का भास ही भ्रम है। व्यक्तिभाव या अहंभाव कभी भी सत्य न था। पर अहंभाव या व्यक्तिभाव में जो कुछ उत्तम अंश है वह महात्मा के पद तक और इससे भी बहुत आगे महेश्वरों के पद तक बना रहता है क्योंकि महेश्वर भी निस्सन्देह व्यक्ति या जीव हैं हालांकि वे हम लोगों की क्षुद्र कल्पना शक्ति के बहुत ही परे हैं।

इस ऊंचे लोक के विषय में हम लोगों में से किसी किसी को एक बार एक अनुभव हुआ था उसका कुछ हाल बताने का हम प्रयत्न करते हैं चाहे वह प्रयत्न अवश्य ही निष्फल होनेवाला हो। तब हम लोग इस लोक को अकेले अपने प्रयत्न से नहीं पहुंच सकते थे सो एक महात्मा गुरु अपने किसी कार्य के लिये, हम लोगों को अपने ऊंचे ओजस् या तेजो मण्डल (aura) में लपेट कर निर्वाण लोक को ले गये। उससे हम लोगों को वहां की महिमा का कुछ हाल मालूम हो सका।

ऐसी कल्पना करो कि सारे विश्व में सजीव प्रकाश की प्रचंड धारा भरी है और सारा विश्वही इसी प्रकार बना है। यह भी कल्पना करो कि इस धारा में जीवन की अवर्णनीय जागृति * और परम आनन्द की अकथनीय तीव्रता भरी है

* जंगली मनुष्य का जीवन सोता सा रहता है। उसको बहुत सी बातों का ज्ञान ही नहीं होता। विज्ञान की दुनिया

जो स्वर्ग के अति ऊँचे परमानन्द से भी कई लाख गुनी अधिक समझनी चाहिये। वहां जाने से प्रथम तो परमानन्द के बोध के सिवाय और किसी का बोध नहीं होता और देखने में प्रचंड प्रकाश के सिवाय और कुछ नहीं दिखता। पर धीरे धीरे हम लोगों को ज्ञान होने लगता है कि इस चकाचोंधी पैदा करनेवाले प्रकाश में भी कोई २ विशेष प्रकाश वाले स्थान हैं जो केन्द्र सरीखे हैं। ये प्रकाश के बने रहते हैं क्योंकि प्रकाश के सिवाय वहां और कुछ तो है ही नहीं। पर वही प्रकाश किसी प्रकार उन केन्द्रों में से विशेष प्रकाशमान् झलकता है और उसमें एक नया गुण आ जाता है जिसके कारण वह प्रकाश दूसरे और नीचे लोकों में भी दिख सकता है। इसके विना इन लोकों में उस प्रकाश की प्रभा का देखना किसी प्रकार संभव न हो सकता। धीरे २ हमको यह भी ज्ञान होने लगता है कि ये २ छोटे सहायक सूर्य (प्रकाश के केन्द्र) अमुक बड़े देव हैं, अमुक २, ग्रह ईश्वर हैं या ईश्वर के बड़े २ दूत हैं या कर्माधिकारी देवता, बुद्ध, मसीह, या महात्मा हैं और प्रकाश और जीवन इनमें से नीचे लोकों में बहते हैं। जैसे २ हमको इस अतिविशाल सत्य वस्तु का अभ्यास होता है वैसे २ धीरे२ हमको यह भी ज्ञान होता जाता है कि बहुत ही नीची रीति से हम भी उस जगत् की युक्ति में

में बहुत सी बातों का ज्ञान होता है। उसका जीवन विशेष जाग्रत है। इस अनुभव और ज्ञान को बेहद बढ़ा दो तो निर्वाण लोक के जीवन की जागृति को प्रगट करेगा। अनु०

या रचना में एक केन्द्र हैं या नाभि (Focus) हैं और हमारे बहुत नीचे लोकों में हमारे द्वारा भी उस प्रकाश और जीवन का प्रवाह उन जीवों में होता है जो हमसे भी और अधिक दूर हैं। उस प्रकाश से तो कोई दूर हो ही नहीं सकता क्योंकि सब उसके अंग हैं पर वे उसके साक्षात्कार से, उसके यथार्थ ज्ञान से, उसके अनुभव से, हमारी अपेक्षा विशेष दूर है।

यदि हम इस प्रकाश का थोड़ा अंश भी देख और समझ सकें तो हम दूसरों पर जो हमसे कम भाग्यवान् हैं उसका प्रतिबिम्ब डाल सकते हैं। वह प्रकाश प्रत्येक के लिये चमकता है और वही एक सत्य है। पर उतने पर भी लोग अपनी अज्ञानता और मूर्ख कर्मों के द्वारा अपने को ऐसा बन्द कर सकते हैं कि जिससे फिर वह प्रकाश उन्हें नहीं दिख पड़ता; जैसे सूर्य सारे जगत् में प्रकाश और प्राण की वर्षा करता है पर यदि लोग गुफाओं और तलघरों में जा छिपें तो फिर उन्हें वह प्रकाश न दिख पड़ेगा। जैसे इस गुफा या तलघर के द्वार पर ठीक रीति से दर्पण रखने से भीतरवालों को प्रकाश का लाभ कुछ अंश तक मिल सकता है उसी समान जब हमें उस प्रकाश का साक्षात्कार हो जाता है तब हम उसको उन लोगों पर डाल सकते हैं जिन लोगों ने अपने को ऐसी अवस्था में कर लिया है कि उन पर वह प्रकाश सीधा २ नहीं पड़ सकता।

वास्तव में ऐसे अनुभव का किसी भाषा में पूरा २ वर्णन तो हो ही नहीं सकता क्योंकि जिन २ बातों का हम

लोगों के मन को ज्ञान रहता है वे सब इस लोक को पहुंचने के बहुत पूर्व ही लोप हो जाती हैं। उस लोक में भी जीव को एक प्रकार का कोश रहता है पर शब्दों में उसका वर्णन करना असंभव है। एक दृष्टि से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह परमाणुरूप है पर दूसरी दृष्टि से ऐसा भासता है कि वह सारा निर्वाण लोक ही है। प्रत्येक मनुष्य चेतना का एक केन्द्र होता है इस कारण उसका स्थान अवश्य होना चाहिये। तो ऐसा कह सकते हैं कि ईश्वर के जीवन प्रवाह में वह किरणकेन्द्र किसी एक स्थान में अवश्य होगा। पर उसको उस निर्वाण लोक में ऐसा भान होता है कि सारा लोक हम ही हैं और हमारा किरणकेन्द्र कहीं भी हो सकता है। जहां कहीं उसका यह बल-प्रवाह किसी क्षण रुक जाता है वही उसके लिये कोश होगया। उस लोक में भी मनुष्य को सब प्रकार यही भान होता है कि हम अब भी पूर्ववत् बने हैं हालांकि उस मनुष्य को अब इतना अधिक ज्ञान होगया है। वहां वह दूसरों को भी पहिचान सकता है। जिन महात्माओं को और बड़े २ जीवों को वह जानता है उनको वह वहां भी पूर्ण निश्चय से पहिचान सकता है; पर यह पहिचान निज अन्त-र्बोध से होती है नकि किसी पूर्व देखे रूप की सादृश्यता से। यदि वह इन महात्माओं में से किसी के ऊपर अपनी चेतना जमावे तो उसे उनके ऐसे रूप का भान होता है जो उनके हिरण्यगर्भरूप (Augoeides) की आकृति दो लोक नीचे थी।

त्रिरूप आत्मा।

सब शुद्ध जीवात्मा (Monads) निस्सन्देह ईश्वर में बल के केन्द्ररूप हैं पर प्रत्येक में अपनी २ अलग खासियत (व्यक्तिभाव) भी बनी रहती है। साधारण मनुष्य में इस शुद्ध जीव का अहङ्कारयुक्त कारणशरीराभिमानी जीव (आत्माबुद्धि मनस=ego) पर और स्थूलशरीराभिमानी व्यक्तिभाव (Personality) पर बहुत कम असर पड़ता है। पर इतने पर भी ये दोनों उसीके रूप हैं। इस शुद्ध जीव (Monad) को आरंभसे ही मालूम है कि विकासक्रम में हमारा क्या लक्ष्य होना चाहिये और हमको किस ओर जाना है। पर जब तक उसके कारण शरीरस्थ रूपान्तर की अच्छी उन्नति न हो लेवे तब तक उसे हमारे इस लोक के जीवन व्यौरे का भान प्रायः बिलकुल नहीं रहता। निदान वह उन बातों में कुछ ध्यान नहीं देता। ऐसा मालूम होता है कि उस समय उसे और जीवों का भी भान नहीं रहता। पर तब वह अवर्णनीय परम आनन्द में लीन रहा आता है और उसे अपने आसपास का असर करनेवाला भान नहीं रहता। जैसे २ उसका विकास बढ़ता है वैसे २ उसे नीचे लोकों की बातों का विशेष भान होता जाता है। निदान अन्त में इन बातों पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। तब उसे अपनी और दूसरों की चेतना रहती है और हमारे भीतर जो उसकी प्रेरणा होती है उसे निःशब्दता की बाणी (अन्तरप्रेरणा) कहते हैं। पर इस प्रेरणा

का ज़ोर हमारी उन्नति के ऊपर आश्रित है। इस नीची चेतना में यह अन्तरप्रेरणा कारणशरीरस्थ जीव (ego) से आती है। जब हमारी चेतना स्थूलशरीर के व्यक्तिभाव (personality) को जीतकर कारणशरीरस्थ जीव (ego) में जा बसती है तब यही अन्तरप्रेरणा या वाणी आत्मा (Spirit) से आती है। जब हमारी चेतना आत्मा में जा मिलती है तब यह वाणी शुद्धजीव (monad) से आती है। जब किसी बहुत लंबे भविष्यकाल में हमारी चेतना शुद्धजीव (monad) की चेतना से मिल जायगी तब यह अन्तरप्रेरणा या वाणी ईश्वर की वाणी हो जायगी। निदान हर अवस्था में हमें नीचे को जीतकर उसे लांघना पड़ता है तब कहीं ऊपरवाली चेतना की वाणी सुन पड़ती है।

शुद्ध जीव का स्थिर निवासस्थान द्वितीय लोक (परानिर्वाण या अनुपादक लोक) में है। पर जब वह तृतीय या निर्वाण लोक में उतरता है तब वह त्रिगुणरूप से प्रगट होता है। ईश्वर हमारे लोकों में जितना व्यक्त हो सकता है उतने की छाया, अथवा आविर्भाव, यह त्रिगुण आत्मा है। हमारे अति उच्च अथवा महापरानिर्वाण लोक में भी ईश्वर का आविर्भाव त्रिरूप से होता है। इन में का प्रथम रूप तो उस अति उच्च लोक से नीचे नहीं उतरता, पर द्वितीय मूर्त्ति रूप से वह द्वितीय लोक में उतर कर वहां की प्रकृति का आवरण धारण करता है। इस प्रकार यह उसकी बिलकुल भिन्न मूर्ति हो गई ; तृतीय मूर्ति से वह तृतीय लोक की ऊपरी अन्तर्भूमि-

काओं तक उतरता है और वहां की प्रकृति का आवरण धारण करता है। यह उसकी तीसरी मूर्ति हुई।

मनुष्य भी तो ईश्वर की प्रतिमा है और इस कारण उस में भी इसी प्रकार की क्रिया होती है। जैसा ऊपर बता आये हैं मनुष्य का आत्मा निर्वाण लोक में त्रिगुण है और उस का प्रथम रूप उस लोक से नीचे नहीं उतरता। दूसरा रूप एक सीढ़ी नीचे चतुर्थ लोक में उतरता है। और वहां की प्रकृति धारण करता है। तब हम उसे बुद्धि कहते हैं। पूर्व के समान तृतीय रूप दो सीढ़ी उतर कर मनोलोक की ऊंची अन्तर्भूमिकाओं की प्रकृति का आवरण धारण करता है; तब हम उसे मनस् कहते हैं। इस आत्माबुद्धिमनस्की त्रिमूर्त्ति को कारण शरीर में व्यक्त होने से हम जीव या जीवात्मा (Ego) कहते हैं।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीव अकेला मनस् नहीं है पर यह आत्मिक त्रिमूर्त्ति है। हमारी अभी की विकासस्थिति में वह मनोलोक की ऊंची अन्तरभूमिकाओं में कारण शरीर में स्थित है। विशेष उन्नति होने पर उसकी चेतना बुद्धि लोक में स्थित होगी और महात्मापद पाने पर निर्वाण लोक में पहुंचेगी। इससे यह न समझना चाहिये कि इस ऊंचे पद को प्राप्त होने पर मन का किसी प्रकार का नाश हो जाता है। जब जीव बुद्धिलोक को उठ जाता है तो वह अपने साथ मनस् को भी ले जाता है और यह मनस् उस मनस् में शामिल हो जाता है जो सुषुप्त रूप से सदैव

बुद्धिलोक में मौजूद था पर अब वह जाग्रत हो जाता है। इसी प्रकार जब उन्नति करता हुआ जीव निर्वाणलोक को पहुंचता है तब भी उस में मनस् और बुद्धि पूर्व के समान मौजूद रहती हैं जिससे अब जीव अपने निज (निर्वाण) लोक में अपनी तीन मूर्तियों को पूर्णरूप से व्यक्त करके विराजमान होता है। इस कारण वास्तव में आत्मा सप्तगुण है क्योंकि अपने निर्वाणलोक में वह त्रिमूर्ति है, बुद्धिलोक में द्विमूर्त्त और मनोलोक में एकमूर्त और इन सब के मिलने पर जो समन्वय या इकट्ठा रूप होता है वह सातवां हुआ। जीव के ऊंचे लोक में चढ़ने से उस में नीचे लोक की चौकसाई या व्यक्तता बनी रहती है। * * *

बुद्धि लोक की चेतना (संक्षिप्त)

स्वार्थपरायण मनुष्य बुद्धिलोक में कार्य नहीं कर सकता क्योंकि यह पूर्ण सहानुभूति और दूसरों को पूर्ण रीति से समझने का लोक है। बुद्धि कोष की चेतना प्राप्त होने से हमें दूसरों की चेतना का भी ज्ञान होता है। हम अपनी चेतना उसकी चेतना में मिलाकर उसकी दृष्टि से उसी के समान अनुभव कर सकते हैं। उसकी ओर बाहर से दृष्टि करने के बदले हम उस पर उसके भीतर से दृष्टि फेंकते हैं। ऐसी अवस्था में हमें बुरे मनुष्य से संकोच नहीं होता क्योंकि तब हम उसे अपने अंश—एक निर्बल अंश—के भाव से देखने लगते हैं। तब हम उसे सहायता देने की इच्छा करते हैं और

अपने इस निर्बल अंश में शक्ति प्रवाह करते हैं। बुद्धिलोक के ऊंचे अन्तर्खण्डों में मनुष्य औरों के साथ एकत्व को प्राप्त होता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस भाव का हम वास्तव रूप से सदैव अनुभव करते रहें और यह सरल नहीं है। भुवर्लोक और बुद्धिलोक में बहुत निकट का संबंध है क्योंकि भुवर्लोक बुद्धि लोक का एक प्रकार का प्रतिबिम्ब या छाया है।

अनुभव।

प्रत्येक जीव को सब अनुभवों को प्राप्त होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि बुद्धिलोक में पहुंचने पर जीव दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकता है। जिन लोगों ने विकास क्रम के विरुद्ध प्रयत्न किया है उनके अनुभवों का भी वहां ज्ञान हो जाता है। वहां सहानुभूति से दूसरों के अनुभवों का ज्ञान होता है। यदि हम दूसरों के दुःखों का अनुभव नहीं करना चाहते तो वहां उस बात को रोक सकते हैं। पर जब हमारी इच्छा सहायता पहुंचाने की है तो इन दुःखों का अनुभव करना चाहिये। बुद्धिलोक में हम दूसरे मनुष्य को अपनी चेतना में ढांकलेते हैं। उसे इसका भान बिलकुल नहीं होता पर इस से उसका दुःख कुछ कम हो जाता है। बहुत करके हम सब को जंगली और अर्द्धजंगली अवस्थाओं का पूर्णअनुभव प्राप्त हो चुका है। महात्मा लोग स्वभावतः दुःख को दूर करना चाहते हैं। पर हम कल्पना कर सकते हैं कि किसी एक मामले में उनकी यह राय होवे कि जो दुःख भोगा जा रहा है उससे विशेष

लाभ होगा और इस कारण उस दुःख को मिटादेने के बदले भुगतने देना विशेष दया का कार्य होगा। उनकी दृष्टि पूर्ण रहती है हमारे समान अधूरी नहीं रहती। इससे उनमें विशेष सहानुभूति रहती है पर जब तक उनके कार्य से सच्चा लाभ न हो तब तक वे सहानुभूति के कारण कोई कार्य नहीं करते।

लोक। (संक्षिप्त)

भुवर्लोक की प्रकृति धरती के भीतर और बाहर भरी हुई है। उसे धरती का एस्ट्रल शरीर कह सकते हैं। धरती के भीतर वाली एस्ट्रल प्रकृति गुरुत्वाकर्षण के कारण विशेष स्थूल है। धरती के बाहरवाली एस्ट्रलप्रकृति चंद्रमा के निकट तक फैली हुई है। इस कारण जब चंद्रमा पृथ्वी के निकट रहता है तब दोनों की एस्ट्रल प्रकृतियां मिल जाती हैं और जब यह दूर हो जाता है तब ये दोनों अलग हो जाती हैं। इसलिये चंद्रलोक में एस्ट्रलशरीर से आना जाना कभी संभव होता है, और कभी नहीं होता।

मनोलोक की प्रकृति एस्ट्रल प्रकृति से भी विशेष ऊंची फैली हुई है और पृथ्वी के केन्द्र तक भी समाई हुई। हमारी ग्रहमाला के सब ग्रहों के बुद्धि लोकों की प्रकृतियां एक दूसरी से मिली हुई हैं ताकि सारी ग्रहमाला का एक ही बुद्धि कोष है ऐसा कहना संभव हो सकता है। संभव है कि सारे सूर्यमंडल में एक ही निर्वाण प्रकृति होवे। भुवर्लोक की सातवीं अन्तर्भूमिका कुछ दूरी तक पृथ्वी के भीतर रहेगी और किसी प्रकार धरती की सतह से मिली रहेगी। भुवर्लोक में प्रेत अपने

लिंगशरीरकी प्रकृति के अनुसार ऊंचे नीचे विभागों में रहते हैं पर यदि वे प्रयत्न करें तो ऊंचे नीचे चढ़ उतर सकते हैं।

धरती के भीतर बड़ी २ पोलें भी हैं जिनमें किसी प्रकार की मनुष्यजातियां रहती हैं पर वे हमारे विकास क्रमकी नहीं हैं। धरती के केन्द्र में पदार्थों की कैसी स्थिति रहती है इसका विचार हम लोगों को सरलता से नहीं हो सकता । पृथ्वी पर की घनी से घनी धातु की अपेक्षा वहां की प्रकृति विशेष घनी है पर पानी के समान तरल भी है। इस प्रकृति में भी किसी प्रकार की सृष्टि विकास कर रही है।

वहां जो बहुत बड़ा दबाव और अति गर्मी है उनकी सहायता से वहां ब्रह्मा नये तत्व बनाते हैं। वहांपर उनकी इच्छानुसार देव और उपदेव गण नये परमाणु बनाते हैं। हमें विश्वास न हो पर केन्द्र से सूर्य के हृदय से संबंध है ताकि जो तत्व वहां बनते हैं वे पृथ्वी के केन्द्र में वाला २ पहुँच जा सकते हैं और उन्हें यहां उसकी सतह पर से प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है।

हमारे सोने का स्थान पवित्र होना चाहिये क्योंकि यदि हमारे सोते समय हमारा घिराव दूषित है तो जब हम निद्राकाल में लिंग शरीर समेत स्थूल शरीर से वाहर निकल जांयगे तब इन्हीं दूषित वस्तुओं की दूषित एस्ट्रल प्रकृति हमारे स्थूल शरीर में घुस आयगी जिसका असर हमपर बहुत बुरा होवेगा।

सबलोकों का प्रकाश तो सूर्य से आता है पर उसका असर यहां की अपेक्षा भुवर्लोक में दूसरे प्रकार का होता है ।

वहां प्रकाश फैला हुआ दिखता है पर किसी खास स्थान से आता नहीं दिखता। एस्ट्रल प्रकृति स्वयं प्रकाशमान् रहती है। लिंग शरीर जीती अग्नि के गोले के समान दिखता है। वह पारदर्शक रहता है और उसकी छाया नहीं पड़ती। भुवर्लोक में कभी अंधेरा नहीं होता।

मरने पर एस्ट्रल शरीर की प्रकृति की व्यवस्था बदल जाती है। सब से मोटी स्थूल प्रकृति बाहर को हो जाती है और उसके अनुकूल अन्तर्खंड में प्रेत पहुंचता है। जब वह घिस जाती है तो वह प्रेत उससे ऊपर के अन्तर्खंड में पहुंचता है। जो मनुष्य भुवर्लोक में सहायता के कार्य करना चाहता है उसे चाहिये कि यह नई व्यवस्था न बंधने देवे। जीवनकाल में सब प्रकार की एस्ट्रल प्रकृतियाँ एस्ट्रल शरीर में सर्वत्र बहती रहती हैं। मरने पर जो नई व्यवस्था बंधती है उस में यह प्रवाह बंद होजाता है पर इच्छा शक्ति के प्रयोग से इस नई व्यवस्था का बनना रुक सकता है। जब प्रेत को दैवी सहायक का काम सिखाते हैं तब उसके इस कवच को मिटा कर उसे स्वतंत्र कर देते हैं ताकि वह सारे एस्ट्रल लोक में विचर सकता है। भुवर्लोक में छूने का भान नहीं होता। यदि दैवी सहायक को ऐसा ख्याल आजावे कि हम दीवाल, पहाड़, अग्नि या समुद्र के एस्ट्रलरूप में नहीं घुस सकते तो वह उनमें न घुस सकेगा। इसीलिये उसे इन बाधाओं को जीतना वहां सिखाया जाता है।

——*——

पंचमसर्ग ।

स्वप्न

यदि जाग्रत काल में मनुष्य अपने विचार ऊंचे और पवित्र रक्खे तो उसके स्वप्न भी पवित्र और अच्छे होवेंगे। सोना आरंभ करने के पूर्व अंतिम विचार विशेषकर अतिपवित्र और उच्च प्रकार के होने चाहिये क्योंकि स्वप्न का प्रकार इनके ऊपर विशेष कर निर्भर रहता है। बुरे और अपवित्र विचार से उस मनुष्य के आसपास बुरे और अपवित्र प्रभाव और नीचे और घृणाके योग्य जन्तु खिंच आते हैं। इसका असर उनके मन और लिंग देह पर पड़ता है और उसकी नीची वासनाओं के जागरित होने के कारण उसकी निद्रा में बाधा आती है। यदि मनुष्य पवित्र और ऊंचे विचारों सहित सोजावे तो इसके आस-पास ऊंचे रूप खिंच आते हैं, उसकी निद्रा शांतिदायक होती है. उसके मनमें ऊंचे लोकों के असर प्रवेश कर सकते हैं और नीचे लोकोंके प्रभावों के लिये उसका मन बन्द रहता है।

स्थूलशरीर ।

स्थूलशरीर अमरत्व को नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि जन्म, जरा, मरण, यह दृश्य जगत् का नियम है। पर स्थूलशरीर की संभाल करना और उसको सुधारना यह हमारा कर्तव्य है। उससे क्रूरता से मत वरतो! जैसे घोड़े को योग्य विश्राम और भोजन देते हो और पूर्णरीति से स्वच्छ रखते हो वैसेही स्थूल शरीर को भी संभालो। मांस मदिरा का व्यवहार

शरीर के लिये बहुत बुरा है। जहां तक हो सके प्याज, पत्तागोभी, कूकरमुत्ता (Mushroom) इनका त्याग करो। चांवल बहुत पवित्र भोजन है पर गेहूँ, जौ, और जई (oats) में विशेष पोषण है। हमारी समझ में अंडे वांछनीय नहीं हैं पर यदि और कोई भोजन न मिले तो हमें अंडे खाने में कोई संकोच न होगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मांसाहार की अपेक्षा अन्न का भोजन प्रत्येक रीति से उत्तम है। अन्न से पोषण और बल विशेष मिलते हैं और रोगकी संभावना कम होती है। वह हमारी नीची वृत्तियों को उतना उत्तेजित नहीं करता। शाकाहार से उच्चगुणों की वृद्धि करना सरल होता है। महात्मा लोग प्रकृति के स्वास्थ्य नियमों का पालन कर पूर्ण निश्चित रहकर एकही शरीर से साधारण मनुष्यों की अपेक्षा बहुत दीर्घकाल तक जीते हैं। हम लोगों को इस विषय में उनका अनुकरण यथाशक्ति करना चाहिये।

तमाखू और मदिरा।

तमाखू का बुरा परिणाम स्थूल, लिंग और मनोमय कोश तीनों देहों में दिख पड़ता है। उससे मनुष्य देह में अति अपवित्र परमाणु भर जाते हैं। कभी कभी तो उस मनुष्य की देह से उसकी दुर्गन्ध निकलती है और इतना न हुआ तो उससे दूसरे प्रकार के बुरे पदार्थ उसकी देह से निकला करते हैं। लिंग देह में तमाखू से अपवित्रता भर जाती है और

बहुत से कंप उससे मंद पड़ जाते हैं। इसीसे लोग उसको नाड़ियों को शांत करनेवाली और आराम देनेवाली समझते हैं। आत्मोन्नति में कंपो को मंद नहीं करते न लिंग देह में बुरे और विषैले परमाणु भर देते हैं। इसलिये योगी के लिये तमाखू बुरी वस्तु है।

तमाखू पीने का परिणाम प्रेत स्थिति में भी बुरा होता है। तमाखू पीने वाले का प्रेत उसके असर से बन्दी हो जाता है जैसे जहलखाने में कैद हो। इस कारण बहुत काल तक ऊंचे कंप उसके पास नहीं पहुंच सकते।

इसमें संदेह नहीं है कि मदिरा का उपयोग भी लिंग देह और मनोमय कोश के लिये सदैव बुरा है। उससे बुरे अदृश्य जीव खिंच आते हैं। यह सत्य नहीं है कि मांस मदिरा या तमाखू में से कोई एक भी मनुष्य के लिये आवश्यक होवे। पर शरीर को किसी भी वस्तु की आदत डाल देने से वह पदार्थ अत्यावश्यक हो जाता है।

मदिरा और सब नशेकी वस्तुओं में कुछ ऐसे पदार्थ रहते हैं जो पचन काल में विथरकर अपने सूक्ष्मरूप में स्थूलशरीर से लिंगदेह में पहुंच जाते हैं। नशेकी वस्तुओं से इन दोनों कोशों का बिगाड़ होता है, इस कारण किसी भी नशैली वस्तु का व्यवहार न करना चाहिये। ऐसा ज़हर चाय और काफ़ी में भी बहुत थोड़े अंश में रहता है। इनका दुरुपयोग दीर्घकाल तक रहने से भी वही हानि होगी।

इति कृष्णार्पणमस्तु।

अकारादि अनुक्रमणिका ।

Printed by Rameshwar Pathak, at the Tara Printing Works.
Benares.